गांधी युग के जलते चिराग

: लेखक :

काका साहब कालेलकर

कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

Gandhi Yug Ke Jalte Chirag

by

Kaka Saheb Kalelkar

Rs. 7/-

प्रथम संस्करण

१९७०

मूल्य ~~प्रति~~ रुपया सात

प्रकाशक :

जयकृष्ण अग्रवाल,

कृष्णब्रदर्स, कचहरी रोड

अजमेर १

मुद्रक :

उद्योगशाला प्रिंटिंग प्रेस,

किंग्सवे, दिल्ली-९.

विषय सूची

विषय

१. बापू के चिरसाथी

२. राष्ट्रमाता कस्तूरबा

(१) पुण्यस्मरण

(२) निष्ठामूर्ति

३. महादेवभाई देसाई

(१) पवित्र आहुति १४

(२) अनाविल ब्राह्मण १७

४. वैदपति जमनालालजी

(१) सर्व स्वजन जमनालालजी ३१

(२) श्री जमनालाल बजाज ३५

(३) जमनालालजी की जीवन साधना ३८

५. राष्ट्रमूर्ति राजेन्द्रबाबू

(१) राष्ट्र मूर्ति ४५

(२) आदरांजलि ४८

६. चिरजीवी सरदार ५०

७. किशोरलाल भाई ५६

८. कुमारप्पा—

(१) सालगिरह ६२

(२) कुमारप्पा भी चले गये ६७

(३) डॉ० कुमारप्पा, मेरी जानकारी के ७१

९. भारतरत्न भारतन ७८

१०. अेक देव-पुरुष—श्री ठक्करबापा ८०

११. कर्मयोगी जाजू जी ८५

१२. श्री नरहरिभाई परीख- गगाना स्वर्याता। ८७

१३. बुनियादी शिक्षा के आचार्य—श्री आर्यनायकम्‌जी ९१

१४. श्री मगनभाई देसाई—और अेक साथी ९४

१५. समन्वयवादी डॉ० जाकिरहुसेन—

(१) हमारे नये राष्ट्रपति ९९

(२) शुद्ध समन्वयवादी राष्ट्रपति १०२

१६. सरहद के गांधी—

(१) खान अब्दुल गफार खाँ १०७

(२) बादशाह खान के प्रति कर्त्तव्य ११२

१७. भावना-क्रांति के अग्रदूत—

(१) श्री विनोबा ११८

(२) विनोबा की तीन प्रधान प्रवृत्तियाँ १३०

१८. श्री रविशंकर महाराज—

(१) श्री रविशंकर दादा १३९

(२) गुजरात के महाराज १४४

१९. श्री भनसाली भाई १४८

२०. रे० मार्टीन ल्यूथर किंग—

(१) गांधीवादी नीग्रो वीर १५३

(२) युग-परिवर्तनकारी बलिदान १५८

परिशिष्ट

संस्कृति के परिव्राजक श्री काकासाहब १६७

(१) काका—महादेव भाई देसाई १६९

(२) काका साहब-जीवन दर्शन : कि० घ० मशरूवाला १७०

(३) काकासाहब कालेलकर : रामधारीसिंह दिनकर १९०

प्रकाशकीय

पद्मविभूषण साहित्य-वाचस्पति डॉ० काका साहब कालेलकर डी० लिट्० के हम अत्यन्त आभारी है, जिन्होने 'राष्ट्रभारती' और 'युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ' के पश्चात् हमें 'चरित्र-कीर्तन' माला प्रकाशित करने का अवसर दिया। वैसे तो गाधी शताब्दी वर्ष मे गाधी जी व उनसे संबधित कार्यों पर अनेक छोटे बडे ग्रथ प्रकाशित हुए हैं, लेकिन चरित्र-कीर्तन माला के प्रस्तुत प्रथम पुष्प का सौरभ, गाधी युग को छूते हुए भी, अपना अलग अस्तित्व रखता है। इसलिए हम विश्वास के साथ कह सकते है कि गाधी युग के कई बहुविध पक्ष जो अब तक भलीभांति उजागर नही हुए है, पूज्य काका साहब की जादुई कलम से इस पुस्तक मे सजोये गये चिरागो के प्रकाश से दीप्त हो उठे हैं।

पूज्य काका साहब की सम्पूर्ण कृतियो के प्रकाशन का अधिकार नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद के पास है, किन्तु उनकी ओर से प्रस्तुत होने वाली कठिनाई मे मार्ग निकालने का दायित्व स्वय श्री काका साहब ने लेकर हमारे भार को बहुत हल्का कर दिया, इस के लिए हम हृदय से उनके तथा नवजीवन ट्रस्ट के प्रति आभार प्रकट करते है।

साथ ही हम श्री रवीन्द्र केलेकर के भी आभारी हैं जिनने चरित्र-कीर्तन माला की पाडुलिपियां तैय्यार की। श्री केलेकर की मातृ-भाषा कोकणी है और वे हिन्दी की अच्छी योग्यता रखते हैं। अग्रेजी, पार्चुगीज, गुजराती व मराठी से सफल अनुवाद कर लेते है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रूफ देखने का भार पूज्य काका साहब, श्री केलेकर व श्री नानावटी जी ने उठाया है अतः हम उन सबके इस कार्य के लिए भी ऋणी है।

चरित्र-कीर्तन माला के मुद्रण का भार उद्योगशाला प्रिंटिंग प्रेस के श्री शातिलाल व० सेठ ने उठाकर वस्तुतः हमे अनुगृहीत किया है।

जयकृष्ण अग्रवाल
सचालक

साथियों का पुण्य-स्मरण

साहित्य सेवा के क्षेत्र में सब से विविध और सबसे आनन्ददायी प्रवृत्ति होती है चरित्र-कीर्तन की। पुराने अध्यात्म-परायण लोग भगवान के (मनुष्य के नहीं) गुणगान करके संतोष मानते थे।

उनके पीछे पीछे अवतारी पुरुषों के 'दिव्य जन्म कर्मों' का वर्णन भी आने लगा।

जब लोग मानव कोटि में उतरे तब लोकोत्तर वीर पुरुषों के अथवा संत सत्पुरुषों के जीवन लेकर लोग अपनी लेखनी को कृतार्थ करने लगे। इनमें 'चरित्र कीर्तन का हेतु कम। माहात्म्य बढ़ाने का उद्देश्य अधिक' ऐसा ही दीख पड़ता था।

अब यह सारी प्रवृत्ति एक तरह से सुधर गयी है। अब हम सामान्य व्यक्तियों में जो विशेषता देख पाते हैं उसी का वर्णन करके जीवनानुभूति समृद्ध करने की कोशिश करते हैं।

इसमें भी बाकायदा चरित्र-लेखन अलग चीज होती है। और चरित्र-कीर्तन बिलकुल अलग होता है। चरित्र लेखन में चरित्रनायक का सांगोपांग जीवन, उसके पुरुषार्थ का वर्णन और उसके समय का जरूरी इतिहास इत्यादि विस्तार आ जाता है।

चरित्र-कीर्तन इतनी बड़ी महत्वाकांक्षा नहीं रखता। इसमें तो जिस व्यक्ति के स्वभाव से हम परिचित हुए और जिस के चारित्र्य के किसी अंश का हमें आकर्षण हुआ उसके बारे में आवश्यक और इष्ट [illegible] शब्द लिखकर हम एक चित्र खड़ा कर देते हैं। चरित्र-नायक का [illegible] उदाहरण हो सका तो उतने भर से लेखक को संतोष होता

साहित्य के अनेक प्रकारों में निबंध-लेखन जिस तरह एक स्वाधीन प्रकार है वैसे ही चरित्र-कीर्तन का भी है। अपनी अनुभूति, अपनी अभिरुचि और अपनी भक्ति जैसी प्रेरणा देगी वैसे कमोबेश लिख कर हम संतोष मान सकते हैं। और वर्ण्य व्यक्ति के साथ अपना जैसा संबंध हो वैसा असर भी कम या अधिक संभाल सकते हैं।

अपने सुदीर्घ जीवन में जिन जिन समकालिनों का और सहसेवियों का संबंध आया उनके बारे में प्रसंगोपात्त कुछ न कुछ लिखने का जरूरी हुआ। इसमें कोई पसंदगी या योजना का सवाल ही नहीं था। प्रसंग उपस्थित हुआ और दिल ने कुछ लिखना चाहा इतने पर से मैंने अनेक चरित्र-कीर्तन लिखे हैं। पता नहीं कब क्या लिखा ? और वह कहाँ प्रकाशित हुआ ? ऐसे चरित्र-कीर्तनों में से थोड़े थोड़े चुन कर उनके संग्रह प्रकाशित करना संपादकों की और प्रकाशकों की अभिरुचि का प्रश्न है।

जिस तरह मैं अपने लेख अपने हाथ से नहीं लिख सकता (उंगलियों का कोई दोष नहीं है। अपने हाथ से लिखने की इच्छा ही नहीं होती) उसी तरह अपने लेखों का संग्रह करने की और संपादन करने की प्रवृत्ति मुझ में कम है। मैं अपना सद्भाग्य मानता हूं (प्रकाशकों और पाठकों का भी) कि मुझे समय समय पर सुयोग्य संपादक मिल जाते हैं। फिर तो मैं उन संग्रहों में क्या आया, क्या रह गया इसकी जाँच करने को भी नहीं बैठता।

प्रस्तुत चरित्र कीर्तन के अंदर बीस व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण आ गया है। इनमें राष्ट्रमाता कस्तुरबा को अलग ही रखना चाहिये हालाँ कि मैंने उनके साथ श्री महादेवभाई को और श्री जमनालाल जी को भी एकत्र लाकर तीनों को बापू के चिरसाथी के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है।

अनेक लोग मुझे अनेक रूप में देखते आये हैं। चंद लोग मुझे घुमक्कड़

के रूप में पहचान कर मुझसे यात्रा के आनंद की आशा-अपेक्षा करते हैं।

चंद लोग मेरे क्रांतिकारी जीवन से आकर्षित होकर प्रगट इतिहास में जिन का जिक्र नहीं आ सका ऐसे क्रांतिकारी व्यक्तियों के बारे में मुझ से जानना चाहते हैं।

अनेक साहित्य-सेवी, साहित्य-प्रेमी और साहित्य-परायण भक्त लोग मुझे स्वजातीय समझकर मुझ से साहित्य की चर्चा और साहित्य का आस्वाद मांगते हैं।

धर्म, तत्त्वज्ञान, जीवन-मीमांसा और संस्कृति-समन्वय के अध्ययन में रुचि रखने वाले लोग मेरे पास से गंभीर चिन्तन की अपेक्षा रखते हैं। और थोड़े लोग मेरी आध्यात्म-साधना का परिचय पाकर मुझ से अुस अनुभव की बातें सुनना चाहते हैं।

इन सभों के साथ मेरा वास्ता है सही, लेकिन मैं रहा जीवन के सब विषयों को एकत्र सोचने वाला 'शिक्षा-शास्त्री'। इसलिये संपादक ने शिक्षा क्षेत्र में जो मेरे नजदीक के साथी थे उनकी चरित्र-रेखाएं यहां प्रधानतया एकत्र करने की कोशिश की हुई दीख पड़ती है। इनमें श्री किशोरलालभाई, श्री कुमारप्पा जी, उनके भाई भारतन् कुमारप्पा, श्री नरहरि भाई परीख, आचार्य आर्यनायकम् जी, श्री मगन भाई देसाई, श्री भणसाली भाई आदि अनेक चिर-साथी आ जाते हैं।

श्री महादेव भाई देसाई हमारे बीच आये तो महात्माजी के रहस्य-मंत्री बन कर, लेकिन श्री नरहरि भाई के साथ उनका पुराना परिचय और सहयोग। और आश्रम में भी वे रहने लगे हम लोगों के बीच। सब तरह की चर्चा विनोद आदि में उनका सहयोग तनिक भी कम नहीं। इसलिये उनको भी मैं व्यापक अर्थ में शिक्षा-साथी ही मानता हूं।

श्री विनोबा भावे का और मेरा परिचय सबसे पुराना. सन् १९११ के आस पास का अुसका प्रारंभ। वे भी हम सभों के साथ आश्रम में शिक्षा

का कार्य करते थे। और गाधीजी की अनुपस्थिति मे प्रार्थना-प्रवचनों को चलाने का ठेका मेरा और विनोबा जी का। इसलिये वे भी हमारे शिक्षा क्षेत्र के साथी ही थे।

जब गांधीजी ने बुनियादी तालीम का प्रचार भारत व्यापी करने का ठाना तब डॉ० जाकिर हुसैन का और हमारा परिचय घनिष्ट हुआ। बाद मे वे राष्ट्रपति बने। लेकिन हमारा असली सबध कायम रहा था।

देशरत्न राजेन्द्र बाबू के बारे मे भी हम कह सकते हैं कि गाधीजी की रचनात्मक प्रवृत्ति के कारण और उसमें भी राष्ट्रीय शिक्षा के कारण हमारा संबध राजेन्द्र बाबू से अधिकाधिक रहा।

रविशकर महाराज तो मूलत एक अच्छे प्राथमिक शिक्षक। उसी में से वे आदिवासियो के नेता, और जरायमपेशा लोगों के उद्धार-कर्ता बने। आज तो 'दलादली के इस युग मे भी' वे सर्वमान्य आदरणीय राष्ट्र-सेवक माने गये है।

श्री जमनालालजी और जाजुजी दोनों ने शिक्षा के क्षेत्र में जो काम किया है उसके कारण इन दोनो को भी हम राष्ट्रीय शिक्षा के श्रेष्ठ सेवक गिन सकते है।

फिर तो रहे सरदार वल्लभ भाई पटेल। उनकी विभूति सब क्षेत्रो मे काम करती थी।

ठक्कर बापा का और मेरा जब प्रथम परिचय हुआ तब वे सागली राज्य के एन्जिनीयर थे। बाद मे उन्होने हरिजन और गिरिजन (आदिवासियों) की सेवा अपनायी।

विदेशी लोगो मे गाधीजी के विचारो का पूरा हृदय से स्वीकार करने वाले नीग्रो धर्मोपदेशक मार्टिन ल्यूथर किंग के चरित्र-कीर्तन का इस विभाग में आना आश्चर्य कारक है सही, लेकिन सपादक उनको और कहा रख सकते थे?

मैं किगजी से अमरिका में मिला। उनका चारित्र्य और उनका नेतृत्व देखकर मैंने उनको भारत आने के लिए आमंत्रण दिया। विदेश में मुझे कई अच्छे अच्छे लोग मिले हैं। लेकिन गांधी विचार और गांधी प्रवृत्ति को पूरी तरह अपना कर अमरिका की नीग्रो जाति को उन्नति के रास्ते ले जाने वाले इस अध्यात्म-परायण नेता का माहात्म्य कुछ और ही था। तो भले इस नीग्रो का चरित्रकीर्तन इसी ग्रंथ में आ जाय।

अब एक बात संपादक ने इस ग्रन्थ में सोची, जो मेरे समझ में नहीं आयी। किन्तु संपादक की दृष्टि को मान्य करके मैंने अपना विरोध वापस ले लिया। संपादक ने ग्रन्थ को नाम दिया है "गांधी युग के जलते चिराग" इनमें कौन कितने जलते हैं इनका हिसाब लगाना आसान नहीं है। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है ज्यादातर लोगों ने लोक-शिक्षा का काम ही किया है। और इनकी जमात को हम 'शिक्षा शास्त्री' कह सकते हैं। अब मैं गांधीजी के साथ करीव तीस पैंतीस साल रहा। उन्हीं का वताया काम करते मैंने अपने को धन्य माना। तब संपादक का कहना है कि मेरा व्यक्ति-चित्र भी इसमें आना चाहिए। अपने वारे में मैं न लिख सकूं तो दूसरे लोगों ने मेरे वारे में जो लिखा है उसको यहां पर मैं क्यों नहीं जोड़ने दूं ?

मैंने सोचा कि। चरित्र-कीर्तन के मेरे अिस संग्रह के लिये अगर और किसी की प्रस्तावना या पुरोवचन संपादक ने लिया होता और वे महाशय मेरे बारे में लंवा चौड़ा कुछ लिखते तो मैं क्या कर सकता ? उसमें औचित्य भी बराबर संभाला जा सकता। ऐसी हालत में अगर इस ग्रन्थ में परिशिष्ठ के रूप में किसी के लिखे हुए दो तीन लेख आ गये तो मुझे क्यों एतराज उठाना चाहिये।

मैं मान गया, और मानते एक पुराना किस्सा याद आया।

गुजरात के एक नेता साहित्यिक श्री कन्हैयालाल मुन्शीजी ने जब गुजराती साहित्य का इतिहास लिखा तब उनको लगा कि गुजरात

साहित्य के इतिहास में अपनी सेवा का जिक्र न आ जायें तो इतिहास की पूर्णता सदिग्ध होगी। और अपने बारे में तटस्थ हो कर लिखना न शक्य है न इष्ट है। इस वास्ते उन्होंने अपने एक स्नेही से प्रार्थना की और उनसे अपने बारे में एक प्रकरण मांग लिया। बात नयी थी। कई लोगों को विचित्र लगी। लेकिन अधिक सोचते जमाना मान गया कि यही रास्ता अच्छा है।

मेरे सामने ऐसी कोई कठिनाई थी नहीं। इस किताब में मेरे कौन कौन से लेख लेना और कौन से नहीं लेना इसका निर्णय संपादक के हाथ में था। संग्रह को नाम भी दिया संपादक ने ही।

फिर उस दिये नाम के संतोष के लिये संपादक अगर मेरे बारे में लिखे गये और आसानी से हाथ में आने वाले दो लेख इस संग्रह के अंत में जोड़ दें तो विरोध नहीं करना इतना ही मेरे हाथ में था। तो फिर अपने संकोच को इतना महत्त्व क्यों दे दूं?

गांधी युग में शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, धर्म सुधार, समाज सेवा आदि क्षेत्र में क्या क्या काम हुआ और उसे करने वाले लोग कैसे थे इसकी थोड़ी सी कल्पना देने का काम इस संग्रह ने अपने सिर पर ले लिया है। उसे यह स्वेच्छा-स्वीकृत काम शुरू करते मैं हार्दिक आशीर्वाद देता हूं।

सन्निधि, राजघाट, नई दिल्ली
होलिका दिन २२-३-७०

बापू के तीन चिर साथी

मैं कई बार कह चुका हूँ कि तीन ऐसे व्यक्ति थे जो बापू के जीवन में तनु-मन-प्राण से ओत-प्रोत हो गये थे और मरते दमतक उन से एक-रस बने रहे। उन का आत्म-समर्पण बिलकुल अनुपम था।

कस्तूरबा, बापूजी की करीब-करीब अनपढ़ सह-धर्मिणी, शुरू से आखिरतक बापू के सारे प्रयत्नों, पुरुषार्थों व मानसिक संघर्षों की साक्षी, और उन के जीवन-शुद्धि की जद्दोजहद में सहकारिणी रहीं। हम सब, जिन्होंने इस दम्पती को उन की जीवन-यात्रा की आखिरी मंजिल में देखा भी उन के आपसी प्रेम व ऐक्य से सदा प्रभावित होते रहे, जो बरसों के आत्मसंयम व वफादार मैत्री का मीठा फल था। एक बार दोनों की आँखों में पवित्र और उन्नत दाम्पत्य-प्रेम की झलक देख पाने का सौभाग्य मुझे हासिल हुआ था, और मैं कृतकृत्य हुआ। यह भाव सम्पूर्ण प्रेम और निष्ठा का सूचक था। कस्तूरबा के अखण्ड आत्म-समर्पण उनके विशुद्ध स्वार्थत्याग और तपस्या का गुप्त कारण यही नैष्ठिक प्रेम था।

. २ .

बापू के दूसरे जीवन-संगी व सहसाधक महादेवभाई देसाई थे। गोधरा में बापू व महादेव भाई की पहली मुलाकात, व उन के स्वीकार का मैं साक्षी था। "तारामैत्रक" का उत्तम नमूना इस प्रसंग में मुझे मिल गया। महादेव को देखते ही बापू ने पहचान लिया—"यह तो वही है, जिसको मैं राह देखता बैठा था।"

उन के सहकार्य के शुरू के दिनों में भी महादेव ने बापू के दिल ऐसा घर कर लिया कि एक बार तेज बुखार के सन्निपातमें

देव का ही नाम पुकारते रहे ! महादेव को कहते रहे कि समाज की अमुक खराबियों के सामने बलिदान-पूर्ण सत्याग्रह चलाने में तुम मेरा साथ दो ।

मुझे यह भी याद है कि एक बार, जब महादेव सख्त बीमार थे, और नरहरिभाई और मैं उन की तीमारदारी कर रहे थे, तो महादेव-भाई बार-बार अस्पष्ट उच्चारण से कहते रहे, 'मेरी दो पत्नियाँ हैं, एक दुर्गा, दूसरे बापू । मैं दोनों से समान वफ़ादार रहूँगा ।'

पूरे बीस साल (या ज्यादा) महादेव चौबीसों घंटे बापू की अनन्य सेवा करते रहे । शुरू के सालों में बापू के कपड़े धोना, उन का कमोड़ साफ़ करना, उन के सारे खत लिखना महादेव ही का काम था । जरूरत पड़ने पर वे बापू की तरफ़ से उच्चतम सरकारी अमलदारों व सर्वश्रेष्ठ देश-नेताओं के साथ 'विष्टि' (negotiations) करते थे ।

एक बार पंडित मोतीलाल नेहरूजी ने लालच में आकर बापू से महादेवभाई की माग की । बंगाल के नेता श्री चित्तरंजन दास ने भी अपने काम में महादेवभाई की मदद मागी थी । बापू ने दोनों की अर्जी कबूल रखी, शायद यह सोचकर कि इन दो महान व उदात्त नेताओं के साथ काम करना महादेव के हक में अच्छा होगा ।

पर माथा रखकर बोले : "मरते समय मुझे आपकी नजदीकी चाहिये।"

चन्द ही साल बाद भगवान ने उन की यह ख्वाहिश पूरी की। पूना के आगाखाँ महल में बापू का काम करते-करते महादेव ने अपनी देह त्यागी।

स्वराज्य-आन्दोलन के रोमांचक जमाने में महादेव "यंग इंडिया" और 'हरिजन' में बराबर और कई सालों तक, साप्ताहिक पत्र लिखते रहे, जिनमें बापूजी की उस वक्त की कारवाईयों का अजीब और सच्चा बयान मिल जाता है। हमको की अपेक्षा थी कि महादेव बापूजी की सम्पूर्ण और प्रमाणभूत जीवनी लिखेंगे। उन की सविस्तर और बारीकियों से भरी हुई डायरियाँ जो इस वक्त सम्पादित होकर छप रही है, बताती है कि निरन्तर अपने को अपने इस महान् कार्य के लिये किस तरह साध रहे थे। अगर भगवान ने महादेव को कौशल्य के साथ फुर्सत भी प्रदान की होती, तो यकीनन् वे साहित्य के मैदान में महाकवि का दर्जा हासिल कर लेते। लोगों के और घटनाओं के शब्दचित्र उन्होंने बड़ी खूबी के साथ खींचे हैं, और उनकी चलती लेखनी एक निहायत सूक्ष्म-वेदी और ऊर्ध्वगामी आत्मा के दर्शन कराती है। उस जमाने की हर जिंदा और उठान चीज़ को महादेव की कृतियों में स्थान मिलता रहा।

: ३

बापू के तीसरे आत्मसखा श्री जमनालाल जी बजाज थे, जो अपनी जवानी ही में बापू के जीवन में प्रविष्ट हुए। इस तेजस्वी युवक में देशभक्ति और अध्यात्म-प्रेम कुछ अजीब तरीके से मिले हुए थे। जमना-लाल बजाज में उस वक्त भी व्यापारी वर्ग के नेता बनने की लियाकत दिखाई दे रही थी। व्यापारी सूझ-बूझ और व्यवहार-कौशल में किसी से कम न थे। उन्होंने बापूजी से याचना की "आप पाँचवाँ पुत्र मान लीजिये।" अपनी दौलत ही क्या, उन्होंने

निष्ठामूर्ति

महात्मा गांधी जैसे महान पुरुष की सहधर्मचारिणी की तौर पर पूज्य कस्तूरबा के बारे में राष्ट्र को आदर मालूम होना स्वाभाविक है। राष्ट्र ने महात्माजी को 'बापूजी' के नाम से राष्ट्रपिता के स्थान पर कायम किया ही है। इसीलिए कस्तूरबा भी 'बा' के एकाक्षरी नाम से राष्ट्र-माता बन गयी हैं।

किन्तु सिर्फ महात्माजी के साथ के सम्बन्ध के कारण नहीं, बल्कि अपने आन्तरिक सद्गुणों और निष्ठा के कारण भी कस्तूरबा राष्ट्रमाता बन गई हैं। चाहे दक्षिण अफ्रिका में हो या हिन्दुस्तान में, सरकार के खिलाफ़ लड़ाई के समय जब-जब चारित्र्य का तेज प्रकट करने का मौका आया, कस्तूरबा हमेशा इस दिव्य कसौटी से सफलतापूर्वक पार हुई हैं।

इससे भी विशेष बात यह है कि बड़ी तेजी से बदलते हुए आज के युग में भी आर्य सती स्त्री का जो आदर्श हिन्दुस्तान ने अपने हृदय में कायम रखा है, उस आदर्श की जीवित प्रतिमा के रूप में राष्ट्र पू० कस्तूरबा को पहचानता है। इस तरह की त्रिविध लोकोत्तर योग्यता के कारण आज सारा राष्ट्र कस्तूरबा की पूजा करता है।

कस्तूरबा अनपढ़ थीं। हम यह भी कह सकते हैं कि उन का भाषा-ज्ञान सामान्य देहाती से अधिक नहीं था। दक्षिण अफ्रीका में जाकर रही इसलिए वह कुछ अंग्रेजी समझ सकती थी और पचीस-तीस शब्द बोल भी लेती थी। मिस्टर अण्ड्रूज जैसे कोई विदेशी मेहमान घर पर आने

पर उन शब्दों की पूंजी पर से वह अपना काम चला
कभी-कभी तो उन के उस संभाषण में विनोद भी पैदा हो

कस्तूरबा की गीता के ऊपर असाधारण श्रद्धा थी
कोई मिले तो वह भक्ति पूर्वक गीता पढ़ने के लिए बैठ
उन की गाड़ी कभी भी बहुत आगे नहीं जा सकी। फिर
महल में—कारावास के दरमियान—उन्होंने बार-बार
लेने की कोशिश चालू रखी थी।

उन की निष्ठा के पात्र दूसरा ग्रन्थ था तुलसी-रा
मुश्किल से दोपहर के समय उन को आधे घण्टे की जो
थी उस में वह बड़े अक्षरों में छपी तुलसी-रामायण के दोहे
कर पढ़ने बैठती थीं। उन का वह चित्र देखकर हमें बड़ा
रामायण भी ठीक ढंग से कभी पढ़ न सकीं।
के द्वारा लिखा हुआ सती सीता का वर्णन भ
कीं हो, फिर भी प्रत्यक्ष सती सीता तो वह बन
में दो अमोघ शक्तियाँ हैं—शब्द और कृति।
'शब्दों' ने सारी पृथ्वी को हिला दिया है। कि
त' की ही है। महात्माजी ने इन दोनों
उपासना की है। कस्तूरबा ने इन दोनों शा
शक्ति की नम्रता के साथ उपासना करके स
ी प्राप्त की।

र ने जब उन्हें जेल में भेज दिया
। न कोई सनसनाटी पैदा
तो वह कानून तोड़ना ही है जो
'पत्नी नहीं हूँ।"—इतना कहकर
उनकी तेजस्विता तोड़ने की कोशि
अन्त में सरकार की उस समय की

डॉक्टर ने जब उन्हें धर्म विरुद्ध खुराक लेने की बात कही तब भी उन्होंने धर्म-निष्ठा पर कोई व्याख्यान नहीं दिया। उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा—"मुझे अखाद्य खाना खा कर जीना नहीं है। फिर भले ही मुझे मौत का सामना करना पडे।"

कस्तूरबा की कसौटी केवल सरकारने ही की हो ऐसी बात नहीं है। खुद महात्माजी ने भी कई बार उनसे 'मुझे छोड' 'मेरे घर से निकल जा', 'मैं कहता हूँ उसी तरह तुझे चलना होगा—ऐसी-ऐसी बातें कहकर उन्हें सताया है। तब भी उन्होंने हार कबूल नहीं की। पति का अनुसरण करना ही सती का कर्तव्य है, ऐसी, उनकी निष्ठा होने के कारण मन में किसी भी प्रकार का संदेह लाये बिना वह धर्म के मामलों में पति का अनुसरण करती रहीं।

कस्तूरबा के प्रथम दर्शन मुझे शान्तिनिकेतन में हुए। सन् १९१५ के प्रारम्भ में जब महात्माजी वहाँ पधारे, तब स्वागत का समारम्भ पूरा होते ही सब लोगों ने सोने की तैयारियाँ कीं। आँगन के बीच एक चौतरा था। महात्माजी ने कहा, 'हम दोनों यहाँ सोयेंगे। अगल-बगल में बिस्तरा बिछाकर बापू और बा सो गये। और हम सब लोग आँगन में आसपास अपने बिस्तरे बिछाकर सो गये। उस दिन मुझे लगा, मानो हमें आध्यात्मिक माँ-बाप मिल गये हैं।

उन के आखिरी दर्शन मुझे उस समय हुए जब वह बिर्ला हाउस में गिरफ्तार की गयी। महात्माजी को गिरफ्तार करने के बाद सरकार की ओर से कस्तूरबा को कहा गया, 'अगर आप की इच्छा हो तो आप भी साथ में चल सकती हैं।" बा बोली, 'अगर मुझे गिरफ्तार करें तो मैं आऊँगी। वरन् आने की मेरी तैयारी नहीं है।" महात्माजी जिस सभा में बोलनेवाले थे उस सभा में जाने का उन्होंने निश्चय किया था। पति के गिरफ्तार होने के बाद उन का काम आगे चलाने की जिम्मेदारी बाने कई बार उठाई है। शाम के समय जब वह व्याख्यान के लिये

खाई उसे चखाने दे। ऐसे स्थान पर अगर पारसन्द की आर्द्रता हमें मिलनी थी तो वह कस्तूरबा में ही। कई बार बा आश्रम के नियमों को ताक पर रख देतीं। आश्रम के बच्चों को जब भूख लगती थी, तब उनकी याद बा को ही सूझती थी। नियम निष्ठ लोगों ने बा के खिलाफ कई बार शिकायतें कर के देखीं। किन्तु महात्माजी को अन्त में हार खा कर निर्णय देना पड़ा कि अन्न नियम बा को लागू नहीं होते।

आश्रम में चाहे बड़े-बड़े नेता आवें या मामूली कार्यकर्ता आवें, उनके खाने-पीने की पूछताछ अत्यन्त प्रेम के साथ यदि किसी ने की हो तो वह पूज्य कस्तूरबा ने ही। आलस्य ने तो उन को कभी छुआ तक नहीं। किसी प्राणघातक बीमारी से मुक्त होकर उठी हुई हों और शरीर में जरा-सी शक्ति आई हो कि तुरन्त बा आश्रम के रसोई में जाकर काम में लग जातीं। ठेठ आखिर में उन के हाथ-पांव थक गये थे। शरीर क्षीण-शीर्ण हुआ था। मुंह में एक भी दांत बचा नहीं था। आंखें निस्तेज हो गयी थीं। तब भी वह रसोई में जातीं और जो काम बन सके, उत्साहपूर्वक करतीं। मैं जब उन्हें मिलने जाता और जब वह खाने के लिये मुझे कुछ देतीं, तब छोटे बच्चों की तरह हाथ फैलाने में मुझे असाधारण धन्यता का अनुभव होता था।

वह भले ही अशिक्षित रही हों, संस्था चलाने की जिम्मेदारी लेने की महत्त्वाकांक्षा भले ही उनमें कभी जागी नहीं हो, देश में क्या चल रहा है उस की सूक्ष्म जानकारी वह प्रश्न पूछ-पूछकर या अखबारों के ऊपर नजर डालकर प्राप्त कर ही लेती थीं।

महात्माजी जब जेल में थे तब दो तीन बार राजकीय परिषदों का या शिक्षण सम्मेलनों का अध्यक्षस्थान कस्तूरबा को लेना पड़ा था। उनके अध्यक्षीय भाषण लिख देने का काम मुझे करना पड़ा था। मैंने उन से कहा —"मैं अपनी ओर से एक भी दलील भाषण में नहीं लाऊँगा। आप जो बतायेंगी, मैं ठीक भाषा में लिख दूंगा।" हां ना कहकर वह

निकल पड़ीं, सरकारी अमल्दारों ने आकर उन से कहा, 'माताजी. सरकार का कहना है कि आप घर पर ही रहें, सभा में जाने का कष्ट न उठायें।' बा ने उस समय उन्हें न देशसेवा का महत्व समझाया' न उन्हें देशद्रोह करनेवाले तुम कुत्ते हो—कहकर उन की निर्भत्सना भी की। उन्होंने एक ही वाक्य में सरकार की सूचना का जवाब दिया, 'सभा में जाने का मेरा निश्चय पक्का है, मैं जाऊँगी ही।"

आगाखाँ महल में खाने-पीने की कोई तकलीफ नहीं थी। हवा की दृष्टि से भी स्थान अच्छा था। महात्माजी का सहवास भी था। किन्तु कस्तूरबा के लिए—यह विचार ही असह्य हुआ कि 'मैं कैद में हूँ'। उन्होंने कई बार कहा—"मुझे यहाँ का वैभव कतई नहीं चाहिए, मुझे तो सेवाग्राम की कुटिया ही पसन्द है।" सरकार ने उनके शरीर को क़ैद रखा किन्तु उनकी आत्मा को वह क़ैद सहन नहीं हुई। जिस प्रकार पिंजड़े का पक्षी प्राणों का त्याग करके बन्धन-मुक्त हो जाता है उसी प्रकार कस्तूरबा ने सरकार की क़ैद में अपना शरीर छोड़ा और वह स्वतन्त्र हुईं। उनके इस मूक किन्तु तेजस्वी बलिदान के कारण अंग्रेजी साम्राज्य की नींव ढीली हुई। और हिन्दुस्तान पर की उनकी हुकूमत कमज़ोर हुई। कस्तूरबा ने अपनी कृति-निष्ठा के द्वारा यह दिखा दिया कि शुद्ध और रोचक साहित्य के पहाड़ों की अपेक्षा कृति का एक कण अधिक मूल्यावान और आबदार होता है। शब्दशास्त्र में जो लोग निपुण होते हैं उन को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की हमेशा ही वि-चिकित्सा करनी पड़ती है। कृति-निष्ठ लोगों को ऐसी दुविधा कभी भी परेशान नहीं कर पाती। कस्तूरबा के सामने उनका कर्त्तव्य किसी दीये के स्पष्ट था। कभी कोई चर्चा शुरू हो जाती तब 'मु
और 'यह नहीं होगा'—इन दो वाक्यों में ही ब
देतीं।

आश्रम में कस्तूरबा हम लोगों
ग्रहाश्रम यानी तत्वनिष्ठ महात्म

अपने भाषण की दलीलें मुझे बता देतीं। उस समय उन की वह शक्ति देखकर मैं भी चकित हो जाता था।

अध्यक्षीय भाषण किसी से लिखवा लेना आसान है। लेकिन परिषद जब समाप्त होती है तब उसका उपसंहार करना हर एक को अपनी प्रत्युत्पन्न-मति से करना पड़ता है। जब-जब कस्तूरबा ने उपसंहार के भाषण किये, उन की भाषा बहुत ही आसान रहती थी किन्तु उपसंहार परिपूर्ण सिद्ध होता था। उनके इन भाषणों में परिस्थिति की समझ, भाषा की सावधानी और खानदानी की महत्ता आदि गुण उत्कटता से दिखाई देते थे।

आज के जमाने में स्त्री-जीवन सम्बन्ध के हमारे आदर्श हमने काफी बदल दिये हैं। आज कोई स्त्री अगर कस्तूरबा की तरह अशिक्षित रहे और किसी महत्त्वाकांक्षा का उदय उस में न दिखाई दें तो हम उसका जीवन यशस्वी या कृतार्थ नहीं कहेंगे। ऐसी हालत में भी जब कस्तूरबा की मृत्यु हुई तब पूरे देश ने स्वय स्फूर्ति से उन का स्मारक बनाने का तय किया। और सहज इकट्ठा न हो पाये इतना बड़ा निधि इकट्ठा र दिखाया। इस पर से यह सिद्ध होता है कि हमारा प्राचीन तेजस्वी र्श अब भी देशमान्य है। हमारी संस्कृति की जड़ें आज भी काफी बूत हैं।

यह सब श्रेष्ठता या महत्ता कस्तूरबा में कहाँ से आई? उनकी । किस प्रकार की थी? शिक्षण के द्वारा उन्होंने बाहर से लिया था। सचमुच, उनमें तो आर्य आदर्श को शोभा देने वक सदगुण ही थे। असाधारण मौका मिलते ही और उतनी ारण कसौटी आ पड़ते ही उन्होंने अपने स्वभावसिद्ध कौटुंबिक । व्यापक किये और उनके जोरों हर समय जीवन-सिद्धि हासिल सूक्ष्म प्रमाण में या छोटे पैमाने पर जो शुद्ध साधना की जाती है ा तेज इतना लोकोत्तर होता है कि चाहे कितना ही बड़ा प्रसंग

आ पड़े, या व्यापक प्रमाण में कसौटी हो, चारित्र्यवान मनुष्य को अपनी शक्ति का सिर्फ गुणाकार ही करने का होता है ।

सती कस्तूरबा सिर्फ अपने सस्कार-बल के कारण पातिव्रत्य को, कुटुंब-वत्सलता को और तेजस्विता को चिपक रही और उसी के जोरों महात्माजी के माहात्म्य के बराबरी मे आ सकी । आज हिन्दु, मुस्लिम, पारसी, सिख, बौद्ध, ईसाई आदि अनेक धर्मी लोगों का यह विशाल देश अत्यन्त निष्ठा के साथ कस्तूरबा की पूजा करता है । और स्वातन्त्र्य के पूर्व की शिवरात्रि के दिन उनका स्मरण करके सब लोग अपनी-अपनी तेजस्विता को अधिक तेजस्वी बनाते हैं ।

एक नमूना भी गांधीजी के सामने उन्होंने पेश किया। किन्तु गांधीजी ने तो उनमें उनका निर्मल हृदय, निष्ठाशक्ति और आत्मार्पण की भावना ही मुख्य रूप से तुरन्त देखी होगी। जिसे 'तारामैत्रक' कहते हैं उसी तरह उनका गांधीजी के साथ एक क्षण में सम्बन्ध बन्ध गया। इसके बाद गांधीजी ने उन्हें अनेक काम सौंपे। महादेवभाई जैसे शक्तिशाली, त्यागी और समय-ज्ञ मनुष्य के सामने प्रलोभन की कमी कहाँ से हो। श्री मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चितरंजन दास और सरदार वल्लभभाई पटेल-जैसों ने महादेवभाई को अनेक ढंग से अपनी ओर खींचने की कोशिशें कीं। किन्तु महादेवभाई तो हमेशा अलिप्त ही रहे। अलिप्त रहना आसान न था। क्योंकि महात्माजी दानवीर कर्ण की तरह मदद करने की इच्छा से देश के इन महान नेताओं के हाथ में महादेवभाई को सौंपने के लिये तैयार भी हो जाते थे।

गांधीजी पचीस साल की अद्भुत तपस्या के महादेवभाई अनन्य साक्षी थे। महादेवभाई यानि गांधीजी के पुरुषार्थ की जीवनकथा—यही सब लोगों का खयाल था। बुखार में अगर गांधीजी कुछ बोले हो उस की भी नोट महादेव भाई के पास तैयार रहती थी।

महादेव भाई की अनेक बातें कही जा सकती हैं। किन्तु 'प्रेमी-पति' और 'प्रेमी-पिता' के नाते आदर्श रहने पर भी गांधीजी के जीवन में यत्किंचित् भी कभी न आने पावे इसी तरह उन्होंने अपना पारिवारिक जीवन जी दिखाया—इसी को उनकी निष्ठा की सबसे बड़ी कसौटी मैं मानता हूँ। गांधीजी के साथ अखंड यात्रा में रहने के कारण महादेव भाई का पारिवारिक जीवन मानो लुप्त हुआ था। बेचारी दुर्गा बहन आश्रम में रहकर आश्रम के जीवन में एकरूप होने की कोशिश किया करती थीं। किन्तु स्वास्थ्य खराब होने से उन्हें अपनी तबीयत की सँभाल करने के पीछे ही समय देना पड़ता था। तिसपर भी महादेवभाई हमेशा प्रेमी पति और आदर्श पिता के स्वरूप में ही देखने को मिलते

महादेवभाई देसाई

: १ :

पवित्र आहुति

स्वतन्त्रता की वेदी पर एक पवित्र बलिदान दिया गया। श्री महादेव देसाई ने अपना जीवन कृतार्थ किया। ठीक पचीस साल पहले महादेव भाई ने पूज्य गांधीजी की और गांधीजी द्वारा देश की तथा मानवता की अखण्ड सेवा करने का संकल्प किया था। उस संकल्प की पूर्ति 'पुण्य-नगर' का नाम धारण करनेवाली भूमिपर कल हुई। आत्मा और शरीर या शरीर और उस की छाया – इन दोनों की जिस तरह की निकटता होती है उसी तरह की निकटता से महादेव भाई गांधीजी के साथ रहे। उन के कपड़े और कमोड़ धोना आदि सेवाओं से लेकर वायसरॉय के पास उन का संदेश पहुंचा देना, यहां तक की सब सेवाएँ उन्होंने अखंड रूप से और अनन्य निष्ठा से की। शारीरिक, शक्ति, सहनशक्ति, बुद्धिशक्ति, हृदयशक्ति और आत्मशक्ति सभी उन्होंने पूर्ण निष्ठा से गांधीजी के चरणों में अर्पण कर डाली थी। उन्होंने कहीं ईश्वर का साक्षात्कार किया हो, तो वह गाँधीजी में ही किया।

जिस दिन महादेव भाई बापूजी के पास आये वह दिन आज भी मेरे लिये उतना ही ताजा है। बापूजी गुजरात के सार्वजनिक जीवन की नींव डालने के लिये गोधरा पहुँच गये थे और महादेवभाई ने उनके पास आकर उनके सचिव बनने की माँग पेश की। मुग्धभाव से उन्होंने अपना अक्षर गांधीजी को दिखाया। खुद भाषा कैसी लिखते हैं उसका

एक नमूना भी गांधीजी के सामने उन्होंने पेश किया। किन्तु गांधीजी ने तो उनमें उनका निर्मल हृदय, निष्ठा-शक्ति और आत्मार्पण की भावना ही मुख्य रूप से तुरन्त देखी होगी। जिसे 'तारामैत्रक' कहते हैं उसी तरह उनका गांधीजी के साथ एक क्षण में सम्बन्ध बन्ध गया। इसके बाद गांधीजी ने उन्हें अनेक काम सौंपे। महादेवभाई जैसे शक्तिशाली, सम्स्कारी और समय-ज्ञ मनुष्य के सामने प्रलोभन की कमी कहाँ से हो। श्री मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चित्तरंजन दास और सरदार वल्लभभाई पटेल—सबों ने महादेवभाई को अनेक ढंग से अपनी ओर खींचने की कोशिशें की। किन्तु महादेवभाई तो हमेशा अलिप्त ही रहे। अलिप्त रहना आसान न था। क्योंकि महात्माजी दानवीर कर्ण की तरह मदद करने की इच्छा से देश के इन महान नेताओं के हाथ में महादेवभाई को सौंपने के लिये तैयार भी हो जाते थे।

गांधीजी पचीस साल की अद्भुत तपस्या के महादेवभाई अनन्य साक्षी थे। महादेवभाई यानि गांधीजी के पुरुषार्थ की जीवनकथा—यही सब लोगों का खयाल था। बुखार में अगर गांधीजी कुछ बोले हो उस की भी नोट महादेव भाई के पास तैयार रहती थी।

महादेव भाई की अनेक बातें कही जा सकती हैं। किन्तु 'प्रेमी-पति' और 'प्रेमी-पिता' के नाते आदर्श रहने पर भी गांधीजी के जीवन में यत्किंचित् भी कमी न आने पाये इसी तरह उन्होंने अपना पारिवारिक जीवन जो दिखाया—इसी को उनकी निष्ठा की सबसे बड़ी कसौटी मैं मानता हूं। गांधीजी के साथ अखंड यात्रा में रहने के कारण महादेव भाई का पारिवारिक जीवन मानो लुप्त हुआ था। बेचारी दुर्गा बहन आश्रम में रहकर आश्रम के जीवन में एकरूप होने की कोशिशें किया करती थीं। किन्तु स्वास्थ्य खराब होने से उन्हें अपनी तबीयत को सँभाल करने के पीछे ही समय देना पड़ता था। तिसपर भी महादेवभाई हमेशा प्रेमी पति और आदर्श पिता के स्वरूप में ही देखने को मिलते

हैं। अपने इकलौते बेटे नारायण की शिक्षा पर वे पूरा ध्यान देते थे। और सेवा का धर्म अदा करने के लिये आवश्यक ऐसी शिक्षा भी वे उसे देते रहे। बाबला ने (चि० नारायण का दुलारा नाम) भी स्कूल में जाकर पढ़ने से इन्कार किया। गुजराती, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि विषय तो उसने अपने पिता के पास से ही सीखे। मुद्रालेखन टाइप-राइटिंग की यानि मुद्रालेखन की कला हासिल करके उसने अपने पिता की और गांधीजी की सेवा करते-करते राष्ट्रभाषा की सभी परीक्षाएँ दी। उसके बाद खादी-विद्या में भी काफी प्रगति की। साहित्य-प्रवीण पिता का लड़का साहित्य की शक्ति विकसित करते हुए कागज बनाने की क्रिया में भी प्रवीण हो जाय यह तो गांधीजी के जमाने में बिल्कुल स्वाभाविक है।

जिस देश में और जिस युग में महादेवभाई जैसे नर-रत्न पैदा होते हैं उस देश और युग का भविष्य उज्ज्वल है। हिन्दुस्तान के और सारी दुनिया के असंख्य लोगों ने महादेवभाई के जीवन की खुशबू का अनुभव किया है। जब मगनलाल गाँधी गुज़र गये तब गांधीजी ने कहा था, कि, 'मैं तो अब विधवा बन गया हूँ, जब श्री जमनालालजी गये तब ांधीजी ने कहा, 'जिसको मैंने अपना पुत्र माना उसी का उत्तराधिकारी ने की नौबत आई है।' अब तो जमनालालजी के अवसान के बाद महीनों के भीतर उनके पचीस साल के साथी महादेवभाई चल बसे। यह घाटा तो वे हिन्दुस्तान की आज़ादी के संकल्प के जोरों ही न कर सकेंगे।

जब किसी वीर की मृत्यु होती है उसे अश्रु के द्वारा श्रद्धांजलि नहीं ाती। बलिदान के खून के अंजलि से ही वीर पुरुष का तर्पण हो ा है। ईश्वर ने यह मौक़ा हम सब लोगों को दिया ही है।

२

अनाविल ब्राह्मण

संस्कृत में अनाविल शब्द का अर्थ होता है—कीचड से मुक्त। किसी भी नदी के कीचड़ से मुक्त, स्वच्छ प्रवाह को हम अनाविल कह सकते हैं। कई सरोवर भी अनाविल होते है।

गुजरात के ब्राह्मणों मे अनाविल ब्राह्मण नाम की एक जाति है। जो कोई आमतौर से खेती करता है—फिर वह ब्राह्मण क्यों न हो—उसका कीचड के बिना भला कैसे चले? फिर भी उस जाति को अनाविल ब्राह्मण कहते हैं। इन लोगों की बस्ती सूरत जिले मे विशेष है। हिन्दुस्तान में सूरत जिले की जमीन विशेष उपजाऊ है और यहाँ के किसानों कि 'मेहनत करनेवाले' और 'बुद्धिमानों' की तौर पर ख्याति है। क लोग तो सरकारी नौकरी मे बडे ऊँचे ओहदों पर भी पहुँच गये हैं।

श्री महादेवभाई देसाई का जन्म सूरत जिले में इस अनाविल जाति में ही हुआ। उनके उज्ज्वल जीवन का स्मरण करके हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपना जीवन किसी भी प्रकार के कीचड से गन्दा होने नहीं दिया। सचमुच जन्म और कर्म से वे अनाविल ही रहे। उनके पिताजी श्री हरिभाई गुजराती प्राथमिक शाला के मुख्य अध्यापक थे। उनकी शरीरयष्टि महादेवभाई से भी जरा ऊँची और मजबूत थी। शिक्षा-शास्त्र मे मानो उन्हें स्वयंभू दिलचस्पी थी। चाहे कहीं भी जायें अपने इर्द-गिर्द के लोगों पर अपनी सत्कारिता का प्रभाव डाले बिना वे कभी रहे नहीं।

महादेवभाई की शिक्षा-दीक्षा उसी तरह हुई, जैसे किसी ग़रीब परिवार के होशियार लड़के की होती है। बम्बई के गोकुलदास तेजपाल फ्री बोर्डिंग हाऊस में वे छात्र थे। वहीं से वे बी०ए० पास हुए। उनके सहपाठियों में बॉम्बे क्रानिकल के श्री ब्रेल्वी तथा ग्रामोद्योग और सहयोग के तज्ज्ञ श्री वैकुण्ठलाल मेहता जैसे चन्द प्रख्यात लोग थे। एल०एल०बी० पास होने पर भी महादेवभाई को वकील बनना पसन्द नहीं आया। उन्होंने बम्बई की ओरिएण्टल ट्रान्सलेटर के दफ्तर में श्री वेग के हाथ के नीचे काम करना शुरू किया। एकबार महादेवभाई ने कहा था कि इस दफ्तर में काम करने के कारण उन्होंने लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य की पांडुलिपि मॉडले से आते ही सबसे पहले पढ़ी थी।

कुछ दिन उन्होंने को-आपरेटिव्ह सोसायटी के इन्सपेक्टर का भी काम किया था। एकबार मैंने उनसे पूछा, 'महादेवभाई, आप मराठी इतनी अच्छी कैसे जानते हैं?' उन्होंने जवाब दिया, 'इन्सपेक्टर के नाते महाराष्ट्र में बैलगाड़ी में बैठकर जब इधर-उधर जाना पड़ता था, उस समय साथ के महाष्ट्रियों के 'चँची' के पान खाते-खाते मैंने मराठी भी सीख ली। इन महाराष्ट्रियों के साथ बातें करने में मुझे बड़ा मज़ा आता। महाराष्ट्र के लोग जब दिल खोलकर बातें करने लगते हैं, तब उनके मन में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं रहता।'

महादेवभाई आश्रम में कैसे आयें यह जानने लायक किस्सा है। श्री नरहरि भाई और महादेवभाई दोनों की साहित्यिक दोस्ती बहुत थी। दोनों ने मिलकर रविबाबू की 'चित्रांगदा' और 'विदाय अभिशाप' का गुजराती अनुवाद किया था। रविबाबू के 'प्राचीन साहित्य' नामक निबन्ध-संग्रह का भी दोनों ने मिलकर अनुवाद किया था। अब श्री नरहरिभाई को वकील का पेशा पसन्द नहीं आया। उस पेशे से ऊबकर और बापूजी से आकर्षित होकर वे आश्रम में दाखिल हुए। श्री किशोरलाल मशरूवाला भी उसी समय आये। श्री ठक्कर बापा के

प्रभाव के कारण अकोला की ओर की अपनी वकालत को छोड़कर देश सेवा में लग जाने का संकल्प करके वे चम्पारण में गांधीजी के पास गये थे। गांधीजी ने नरहरीभाई और किशोरलालभाई—दोनों को सीधे आश्रम में जाकर राष्ट्रीयशाला का काम हाथ में लेने की सूचना की। उसके पहले ही मैं भी उस शाला में दाखिल हो चुका था। हमारा काम बहुत अच्छा चलने लगा। महादेवभाई को भी लगा होगा कि जहां नरहरीभाई पहुँचे हैं वहां स्वयं उन को भी जाना चाहिये। किन्तु उन्हें शिक्षा के काम में उतनी दिलचस्पी नहीं थी। इसलिये वे महात्माजी के सचिव बने। मैं उन्हें शिवाजी का सचिव कहता था।

महादेवभाई ने बापूजी को अपने चन्द गुजराती तथा अंग्रेजी लेख दिखाए। उनमें एक अंग्रेजी भाषण भी था, जो उन्होंने किसी को लिख कर दिया था। यह सब दिखाकर उन्होंने बापूजी से कहा, कि 'मैं आप की सेवा करना चाहता हूं।' वैसे गांधीजी तो किसी को बिना जांचे अपनाते नहीं। जो कोई उनके पास आता है उसको वे प्रथम अपने पास आने देते हैं। धीरे-धीरे उसे बढ़ने देते हैं। किन्तु महादेवभाई को देखते ही उनकी आंखों की निष्ठा का बापूजी पर असर हुआ और वे समझ गये कि अपने लिये ही पैदा हुआ या भेजा गया यह नवयुवक है। उन्होंने महादेवभाई की सेवा का तुरन्त स्वीकार किया। महादेवभाई ने पूछा—'मैं कबसे काम पर लग जाऊं?' बापूजी ने कहा—'अभी से, आप काम में लग चुके हैं ऐसा ही मान लें।' उसी दिन बापूजी ने महादेवभाई को अपने साथ ले लिया।

गुजरात की राष्ट्रीय अस्मिता के प्रारम्भ के वे दिन थे। पूरे बम्बई प्रान्त की राजकीय परिषदें, कई बरसों से चलती आई थी। अब भाषा के अनुसार प्रान्तों की रचना करने की कल्पना उठने से गुजरातियों ने गुजरात प्रान्तीय राजकीय परिषद की स्थापना करने की ठानी। गांधीजी अध्यक्ष चुने गये। परिषद गोधरा में हुई (नवम्बर,

१९१७) लोकमान्य तिलक इस परिषद के अतिथि विशेष की तौर पर पधारे थे। विट्ठलभाई और वल्लभभाई पटेल तो थे ही। श्री ठक्करबापा भी अपना हरिजन कार्य लेकर आये थे। भारत-सेवक-समाज के श्री इन्दुलाल याज्ञिक भी थे। गोधरा में आयोजित इस प्रथम राजकीय परिषद ने गुजरात के राजकीय और राष्ट्रीय तेजस्वी, जीवन की बुनियाद डाली। उसी समय महादेवभाई ने गांधीजी के सचिव पद का स्वीकार किया। उस दिन जिस जीवन कार्य को उन्होंने स्वीकार किया, उसे उन्होंने आखिरी श्वास तक निभाया।

उन दिनों बापूजी परिव्राजक बनकर सारे देश में घूमते थे। इसलिये आश्रम में रहनेवाले हम लोगों को उनका सहवास बहुत ही कम मिलता था। जब-जब महादेवभाई बापूजी के साथ आश्रम में आते तब-तब उन की सुगन्ध सर्वत्र फैल जाती। ऐसा एक भी विषय नहीं होगा जिसकी चर्चा हमने न की हो। किसी संस्था की ओर से उन्हें भाषान्तर का काम मिला था। जान मोर्ले के 'ऑन कॉम्प्रोमाइज' नामक विख्यात निबन्ध का अनुवाद उन्होंने कर दिया था। काफी चर्चा के अन्त में उन्होंने उस पुस्तक का नाम रखा 'सत्याग्रह की मर्यादा'। मूलग्रन्थ काफी कठिन भाषा में लिखा गया है। महादेवभाई के भाषान्तर का पहला प्रकरण हमने साथ में पढ़ा। कई अंग्रेजी और गुजराती शब्दों के अर्थ और मर्म की चर्चा की। बी० ए० की परीक्षा के लिये ऐच्छिक विषय की तौरपर उन्होंने फिलासॉफी ली थी। मेरे समय में मैंने भी ... विषय लिया था। अनुवाद की खूबी की चर्चा करते करते हमारी ... बढ़ी। उन्हीं दिनों मैंने 'पूर्ण स्वदेशी' पर एक लेखमाला लिखी जो उन्हें बहुत पसन्द आयी थी। अन्त में जब महादेवभाई आश्रम ... यात्रा के लिये निकल पड़े तब उन्होंने अपने स्वभाव के अनुसार ... लिखकर कहा, कि 'मैं आपका हमेशा के लिये मित्र रहूँगा।"
...भाई की 'सत्याग्रह की मर्यादा' पुस्तक पढ़कर किशोरलालभाई ... अपने विचार लिख डाले, जो 'सत्यमय

जीवन' के नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए हैं) उन्हीं दिनों महादेव भाई ने शरदबाबू की 'विराज बहू' का बगाली से गुजराती में अनुवाद किया था। उनकी बगाली तीन कहानियों का भी अनुवाद किया था। रविबाबू के कई गीत जो उन्हें कठस्थ थे और कई गीतों का उन्होंने गुजराती में पद्यमय भाषान्तर भी किया था।

गांधीजी के राजनैतिक गुरु श्री गोखले के सब लेखों का गुजराती अनुवाद करने की बात तय हुई थी। उनमें से चरित्र-कीर्तनात्मक लेखों का अनुवाद महादेवभाई ने किया है। योरप के प्रख्यात सन्त फ्रांसिस ऑफ असीसी के छ सौ साल का उत्सव जब दुनिया ने मनाया, गांधी-भक्त महादेवभाई ने बहुत-सा फ्रांसिस्कन साहित्य पढ़ डाला और उस सन्त के जीवन पर एक छोटी-सी लेखमाला भी लिख डाली। यह लेख-माला पढ़ने ही ध्यान में आ जाता है कि महात्माजी के जीवन के साथ ओतप्रोत बनकर उस जीवन का अखड ध्यान करनेवाले एक भक्त ने ही यह सब लिखा है।

गांधी के सनिध होने से कई आन्दोलनों की अन्दर की बाजू वे जानते थे। इस जानकारी का लाभ लेकर उन्होंने 'बारडोली के सत्याग्रह का इतिहास' लिख डाला। उसी तरह महात्माजी की 'सिहल यात्रा' 'त्रावणकोर का हरिजन कार्य' आदि पुस्तके उन्होंने लिखी। जीवन चरित्रों के बारे में दो पुस्तकें उनकी कलम की शोभा देती हैं—'दो खुदाई खिदमतगार' (सीमा प्रान्त के खान बन्धुओं का चरित्र) और मौलाना अबुल कलाम आजाद की जीवनी। सरदार वल्लभभाई के बारे में भी उन्होंने लिखा है। अहमदाबाद के मजदूरों के सत्याग्रह का इति-हास 'एक धर्मयुद्ध' के नाम से लिखकर उन्होंने अपने राष्ट्रीय साहित्य का प्रारम्भ किया था। और भगवद्गीता के ऊपर अंग्रेजी में एक बडी पुस्तक लिखकर उन्होंने मानों उसकी पूर्णाहुति की।

अग्रजी और गुजराती के द्वारा महादेवभाई ने कीमती

की है। किन्तु जिस सेवा के लिये सारी दुनिया महादेवभाई के प्रति चिरऋणी रहेगी वह सेवा है उनके साप्ताहिक पत्र—'नवजीवन, यंग इंडिया, हरिजन और हरिजन-बंधु' इन चार साप्ताहिकों में उन्होंने महात्माजी के कार्य का जो विस्तृत वृत्तान्त दिया है, उनके जो संवाद ज्यों की त्यों शब्दबद्ध किये हैं और जो प्रवासवर्णन देकर देश का सारा वायु-मंडल उद्दिप्त किया है—यह सब दुनिया के साहित्य में एक मूल्यवान चीज है।

गांधीजी की तरह-तरह की सेवाएं करते हुए जो कुछ समय इधर-उधर बच जाता था उसी समय में बड़ी रफ्तार के साथ जल्दी-जल्दी लिखा हुआ यह सारा साहित्य है यह किसी के ध्यान में भी नहीं आयेगा। महादेवभाई स्वयं कहते थे कि सुन्दर साहित्य बार-बार घोटने से ही अपना सौष्ठव प्रकट करता है। वे कहते थे कि जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के शरीर पर जीभ फेर-फेरकर उसको साफ़ सुथरा बनाती है उसी प्रकार गद्य को सुधारकर, सजाकर, सँवारकर घोंट-घोंटकर सुन्दर बनाना चाहिये। कविता तो जब छद में बैठ जाती है तब जैसी होना चाहिये वैसी बन जाती है। But prose is never done. फिर मुझसे पूछते हैं, 'प्रोज इज़ नेव्हर डन' का गुजराती कैसे करेंगे ? मैंने कहा — 'गद्य में कभी भी अलंबुद्धि आती ही नहीं। गद्यकार कभी यों नहीं कह सकता कि बस, अब इसमें सुधार की कोई गुँजाईश ही नहीं।'

इस तरह का आदर्श अपने सामने रखनेवाले महादेवभाई ने वृत्त-विवेचक की जल्दी से (जर्नालिस्टिक हरी से) जो साहित्य अंग्रेजी और गुजराती को दिया है उसकी शोभा, संस्कारिता और प्रसन्नता देखकर मनुष्य चकित हो जाता है।

महादेवभाई के साहित्य में संस्कारिता, प्रसाद और सौष्ठव लबालब भरे हुए हैं ही। किन्तु इन से भी बड़ी चीज़ उसमें जो नजर आती है वह महात्माजी के सम्पर्क में पूर्णरूप से अपनाई हुई शुद्ध जीवन-दृष्टि। प्रसंग

कोई भी हो, कोई मत हो या व्यक्ति हो, उसके बारे मे महादेवभाई ने जब कुछ लिखा है तब उस मे यही शुभदृष्टि दिखाई दी ही है। हर चीज का अच्छा पहलू देखना, हर मनुष्य के बारे में मित्र की अनुकूल वृत्ति से सोचना, हर घटना मे सत्ययुग का जो कोई अंश हो सो प्रकट करना आदि शुभदृष्टि के लक्षण है। इस तरह की शैली के कारण उन्होंने बिना कोई उपदेश किये कई व्यक्तियो को उन्नति का रास्ता दिखाया है और कई नाजुक प्रसगो को बचा लिये हैं। इसी लिये मैं अक्सर कहता हू कि महादेवभाई के इस खूबीवाले साहित्य को व्यापक और (इसीलिये सही माने में) धार्मिक साहित्य कहना चाहिये। महात्माजी के सर्व-कल्याणकारी जीवन को जो विशेषण हम लगा सकते हैं, वही विशेषण कुछ हद तक महादेवभाई की साहित्य शैली को भी हम खुशी से लगा सकते हैं। भारत के उत्थान युगके याने गांधीयुग के इतिहास का बहुत-सा महत्त्व का अंश दुनिया को महादेवभाई के साहित्य में मिलने वाला है।

महादेवभाई की तुलना अक्सर विलायत के प्रकाड पंडित डा० जानसन की जीवनी लिखनेवाले बॉसवेल के साथ की जाती है। महा-कवि गटे के सभाषण लिख रखनेवाले लेखक ओक्करमान की जर्मन साहित्य में काफी प्रतिष्ठा है। हमारे लोगो ने शायद ओक्करमान के सभाषण ज्यादा पढे नहीं होंगे। वरना लोगो ने महादेवभाई की तुलना ओक्करमान के साथ की होती।

मेरी दृष्टि से महादेवभाई का व्यक्तित्व बॉसवेल और ओक्करमान से बिलकुल अलग और ऊँचा है। और उनका भाग्य तो दोनो से कितना ऊँचा था! इसीलिए उन्हे महात्माजी के और उनके युगकार्य के बारे में लिखने का अवसर मिला।

महादेवभाई का मुख्य काम तो था महात्माजी का पत्रव्यवहार सँभालना। शुरू-शुरू में वे अकेले ही यह काम करते थे। उसके ब

श्री प्यारेलालजी उन्हें मदद करने लगे। उसके अनन्तर राजकुमारी अमृतकौर ने भी काफी काम सँभाला। हर रोज तीन, चार, पाँच आदमी पूरा समय देकर काम करें तभी महात्माजी का पत्रव्यवहार से मुकाबला हो सकता था। प्रारम्भ के दिनों में बहुत से पत्रों के उत्तर बापूजी महादेव को लिखवाते थे। बाद में स्वयं महादेवभाई ही चंद पत्रों के जवाब देने लगे। और खास-खास पत्रों के जवाब बापूजी अपने हाथ से लिखने लगे। आखिर आखिर में इंग्लैण्ड, अमरीका, योरप, अफ्रीका आदि विदेश के साथ गांधीजी का जो पत्रव्यवहार चलता था, महादेव भाई ही संभालते थे। अनेक देशों के बड़े-बड़े लोगों के साथ सम्बन्ध रखना, गांधीजी की प्रवृत्ति के बारे में उन्हें जानकारी देना, उनकी ख़बरें पूछना और यह सब संक्षेप में महात्माजी को समझा देना कोई मामूली काम न था। इस काम का महत्त्व और जत्था एक मनुष्य की शक्ति से अधिक था। किन्तु महादेवभाई अकेले यह सब सँभालते थे। महात्माजी का काम करने की सारी खूबी और उस की सुगन्ध महादेव भाई की दृष्टि में, वाणी में और कलम में आ गयी थी।

महादेवभाई का काम बढ़ता हुआ देखकर मैंने एक दफ़ा उनसे शार्ट हैण्ड (शीघ्र लिपि) सीख लेने की सलाह दी। एक दफ़ा जब वे बेलगाम आये, मैंने उनसे पिट्मन और स्लॉन डी प्लॉन दोनों प्रकार की शीघ्र-लेखन-पद्धति की पुस्तकें दीं। और वह पढ़ाने की भी व्यवस्था कर दी। दो एक दिन वह पढ़ने गये होंगे। उस के बाद उन्होंने तय किया कि उन्हें इसकी जरूरत नहीं है। वे कहते थे, कि 'अंग्रेजी और गुजराती चालू लिपि मैं इतनी तेज़ी से और सुवाच्य लिखता हूँ, कि दस साल के बाद भी मैं तो क्या, कोई भी उसे पढ़ सकता है।' सचमुच! महादेव भाई की कलम किसी नागिनी की रफ्तार से कागज़ पर जब अक्षर उतारती जाती थी, तब उसे देखकर आँखें तृप्त हो जाती थीं। उनके ...ी के दाने जैसे अक्षरों को यदि कोई उपमा देनी हो तो उनके मधुर कुशाग्र स्वभाव की ही दी जा सकती है।

अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी, बंगला, मराठी, संस्कृत इन भाषाओं के साथ उनका अच्छा परिचय था। इन भाषाओं की अद्यतन पुस्तकें—खुद खरीदी हुई और मित्रों के द्वार भेजी हुई—देखने का काम उन्होंने कभी भी शिथिल होने नहीं दिया। सारे दिन का काम पूरा करने के बाद रात को सोने से पहले कई पुस्तकें, मासिक पत्रिकायें वगैरा वे पढ़ लेते थे। जेल में अब्बास साहब की और बाहर मीराबहन की मदद लेकर उन्होंने कुछ फ्रेंच भी सीख ली थी। इतने ज्ञान से भी उनको काफी लाभ हुआ। अखण्ड पढ़ना, अखण्ड लिखना, सूक्ष्म निरीक्षण और जागरूक आत्मपरीक्षण करना—इन के द्वारा उन्होंने अपनी बाह्य तथा आन्तरिक योग्यता बढ़ाने की साधना अन्त तक चालू रखी थी। और इसमें उद्देश्य एक ही था—महात्माजी की सेवा करने का जो व्रत लिया है वह पूर्णता के साथ पार पड़े।

बीस साल तक सेवा देने का वचन उन्होंने गांधीजी को दिया था। किन्तु बीस साल पूरे होने से पहले ही वे गांधीजी के साथ इतने एकरूप हो गये थे कि गांधीजी की सेवा उनके लिए साधना या धर्म बनने के बदले उनका स्वभाव ही बन गया था। उनका सारा जीवन इतना बापूमय हो गया था कि मैं उन्हें सेवाधर्मी प्रेमयोगी कहता था। महात्माजी का छोटा-बड़ा जो भी काम हो, समान भक्तिभाव से और प्रेमभाव से वे करते थे। बापूजी के कामों में फलां बड़ा और फलां छोटा ऐसा भेद ही उनके पास नहीं था। बापूजी के कपड़े धोना, उनका कमोड साफ करना आदि से लेकर बापूजी की ओर से बड़े-बड़े लोगों के पास जाकर बिलकुल नाजुक काम चुपचाप करके आ जाना—यह काम महादेवभाई का ही था। श्री जमनालालजी, वल्लभभाई, राजाजी, राजेन्द्रबाबू, खिलीजी जैसे महात्माजी के निजजनों से साथ महादेवभाई का सम्बन्ध भाई के समान था। श्री जवाहरलालजी को भी इनमें भूलना नहीं चाहिये।

श्री जवाहरलालजी की आत्मकथा का गुजराती अनुवाद महादेव भाई ने कितने प्रेम से किया था ! और पुस्तक की प्रस्तावना में उन्होंने अपना व्यक्तित्व भी बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रकट किया था।

एकवार श्री मोतिलालजी ने और दूसरी बार देशबन्धु चित्तरंजन दास ने महात्माजी से महादेवभाई की माँग की। इसमें देश का लाभ है ऐसा समझकर महात्माजी ने महादेवभाई को उनके पास भेज भी दिया। किन्तु बिल्ली को चाहे कहीं रख देने पर भी जिस प्रकार वह सीधी घर पर ही लौट आती है वैसे महादेवभाई भी अपने मधुर चातुर्य का प्रयोग करके महात्माजी के पास वापस लौट ही आये।

महादेवभाई में धार्मिकता के अंश पहले से ही मौजूद थे। गोधरा में 'बापजी' नामक कुम्भार जाति के एक ज्ञानी भक्त थे। उनके सत्संग में और उनके भजन सुनने में महादेवभाई को तल्लीन होते मैंने देखा है। एक दफ़े महादेवभाई सख्त बीमार हुए। महीनों तक वे बिस्तर छोड़ नहीं सके। ऐसे मौक़े पर बापजी महादेवभाई के यहाँ ख़ास आकर रहे थे और सुबह शाम भजन सुनाते थे। अरजन नामक कोई पुराने गुजराती संत कवि की कविताओं का संग्रह करके महादेभाई ने उनका संपादन भी किया था। रविबाबू के गीतों का उपयोग भी महादेवभाई धार्मिक वृत्ति से करते थे। किन्तु गाधीजी के पास आने के बाद उनकी धर्म-साधना बापूजी की सेवा और उनके काम का ध्यान करने में ही पूरी हुई थी। इतना एकाग्र, एकनिष्ठ और अखण्ड ध्यान शायद ही किसी ने आमरण चलाया हो।

मं में आये तब से वे सादगी से और स्वाभाविक संयम से हो
किन्तु बाह्य आचार व्यवहार में आश्रमवासी की छाप न पड़े
। वे खास सावधानी रखते थे। आजकल के रिवाज के
ल कटवाना, चाय पीना आदि अपनी आदतें उन्होंने अन्त
। शुरु शुरु में हम आश्रमवासियों को a tribc

of vow takers कह कर हमारी वह मजाक उड़ाते थे। किन्तु यह सब ऊपर-ऊपर का था। इसका लाभ तो इतना ही था कि किसी भी प्रकार के लोगों को उनके पास आने में संकोच का अनुभव नहीं होता था। किन्तु महात्माजी के पास रहने से उनकी जीवन-साधना दिन-ब-दिन उग्र और तेजस्वी बनती गयी। ब्रह्मचर्य का व्रत तो उन्होंने यथा समय लिया ही था। किन्तु तीन दफे खाने के बाद बीचमें इलायची भी मुंह में न डालने का नियम उन्होंने आग्रह के साथ चलाया था। उनकी तकली की दैनिक उपासना भी सामान्यकोटि की न थी। सबके साथ मित्रता रखना और किसी भी प्रकार के आदमी के साथ मधुरता से पेश आना कोई मामूली बात न था। किन्तु उनकी मुख्य साधना तो महात्माजी की इच्छा में अपना जीवन विलीन कर देना यही थी। साधना की जब बातें चलती थीं तब वे कहा करते थे —'मैं जानता हूँ कि विकारों के ऊपर मैंने विजय प्राप्त नहीं की है, विकारों से मैं मुक्त नहीं हूं।' किन्तु यह तो उन के केवल शिष्टाचारी नम्रता के वचन न थे। उनकी जागरूक साधना, उग्र आत्म-परीक्षण और विकार पैदा होते ही उन्हें दबा देने के उनके प्रयत्नों के साक्ष के तौर पर उनके यह वचन थे। एक दफे उन्होंने चौदह दिनों का उपवास किया था। इस उपवास के दरमियान उन्होंने भगवान से ऐसी व्याकुल प्रार्थना की थी कि उन्होंने अपने आँसू के द्वारा अपने विकार धो डाले थे। महात्माजी के पास बैठकर जब वे प्रार्थना करते या गीता पाठ चलाते अथवा भजन गाते तब भी उनमें तल्लीनता दिखायी देती थी। महात्माजी का कोई भी काम आ पड़ा हो, उन्होंने पूर्ण एकाग्रता के साथ वह किया ही है और ईश्वर ने हर काम में उन्हें सफलता दी ही है।

गुजरात में बाढ़-संकट निवारण के लिये या ठक्कर बापा के अथवा ऐसे ही किसी दूसरे सेवाकार्य के लिए जब कभी चन्दे की जरूरत रहती थी तब महादेवभाई जरूरी रुपये ले ही आते थे। सरदार पृथ्वीसिंह को जेल से छुड़ाने का कठिन काम आ पड़ा। तब महादेवभाई ने खुद ही सर

सिकन्दर हयातखान के पास जाने की सोची। हयातखान को समझाना या मनवाना आसान काम नहीं था। किन्तु महादेवभाई पृथ्वीसिंह को छुड़ाकर ही लौटे।

गांधीजी ने वर्धा की मगनवाड़ी छोड़कर सेवाग्राम जाकर रहने का निर्णय किया। तब मगनवाड़ी को संभालने की जिम्मेवारी महादेवभाई के सिरपर आ पड़ी। उस समय मगनवाड़ी से गांधीजी की डाक लेकर रोज छह सात मील दूर पैदल सेवाग्राम जाना और शाम होते ही छह सात मील पैदल चलकर मगनवाड़ी वापस लौट आना यह काम तो सिर्फ महादेवभाई को ही करना पड़ता था। सख्त धूप पड़ती हो या धुंआंधार बारिश गिरती हो, गर्मी के दिन हों या जाड़े के दिन हों, उनकी सेवा-ग्राम की पैदल यात्रा बिना रुके चलती ही रही। गांधीजी ने उन्हें कई बार कहा, 'भई, सेवाग्राम आकर रहो।' किन्तु कई दिनों तक महादेव भाई को यह बात बिलकुल पसन्द नहीं आयी। आखिर गांधीजी का आग्रह बहुत हुआ और महादेवभाई अपने लिए बनाए हुए सेवाग्राम के नये घर में जाकर रहे।

महादेवभाई मगनवाडी में रहते थे तब एकबार उन्हें ब्लडप्रेशर यानी मगज पर खून के दबाव की बीमारी हुई। गांधीजी ने उन्हें पूरा आराम लेने का हुक्म किया। किन्तु उनका जी तो काम में ही पडा हुआ था। इस हालत में मन कैसे मानेगा। एक बार आराम के लिए नासिक जाकर रहने की गांधीजी ने उन्हें आज्ञा की। असबाब सब इकट्ठा करके महादेवभाई स्टेशन पर पहुँचे। लेकिन वहीं खून का दबाव यकायक बढ़ गया। अत: उन्हें वापस लौटना पड़ा। थोड़ा आराम मिलते ही फिर से काम करने के लिए तैयार होने की महादेवभाई में खास शक्ति थी। किन्तु देश में जो कुछ चल रहा था उसका असर जिस प्रकार गांधीजी के मन पर हुआ करता था उसी प्रकार गांधीजी की मानसिक अवस्था का असर महादेवभाई की तबीयत पर होता था। एक

थे। मेरे कहने से सारे हिन्दुस्तान का वर्णन लिखना भी उन्होंने मंजूर किया था। इन बीस-पचीस सालों की डायरी हाथ में रखकर हिन्दुस्तान का आधुनिक इतिहास और गाँधीजी की जीवनी लिखने की जिम्मेदारी उनके ही सिरपर थी। किन्तु ईश्वर ने उन्हें बीच में ही से बुला लिया। ईश्वर के कामों को अच्छे या बुरे कहने वाले हम कौन होते हैं! जिसने दिया उसी ने छीन लिया। उसकी लीला का पार अब तक कोई समझ नहीं सका है।

१९४२

वैश्यर्षि जमनालालजी

सर्व-स्वजन जमनालालजी

एक दिन श्री घनश्यामदासजी बिड़ला ने पूछा--'पुराणों में ब्रह्मर्षि का जिक्र आता है, विश्वामित्र जैसे क्षत्रर्षि भी हुए. उसी तरह क्या वैश्यर्षि नहीं हो सकते है ?' मैंने कहा कि 'बापूजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त अगर स्वीकार किया गया, तो ऐसे वैश्य, अगर वे ईश्वरनिष्ठ भी रहे, तो वैश्यर्षि ही बन जाते हैं। श्री जमनालालजी ऐसे एक 'वैश्यर्षि' थे। प्रामाणिकता से धन कमाना और उदारता से उसका वितरण करना, यह तो उनका स्वभाव ही था। 'ट्रस्टीशिप' की बात सुनने के पहले भी वह सिद्धान्त अज्ञात रूप से उनके खून मे भरा हुआ था। मैंने शुरू से देखा है कि जब कभी वे किसी देशसेवक का दुःख सुनते या देखते थे, तब फौरन अपने आपको उसकी स्थिति मे अनुभव कर लेते थे। जब उन्होंने गाधीजी से प्रार्थना की कि मुझे अपना पुत्र मान लीजिये, तब उसी भाव से उन्होंने देश भर के समाज-सेवकों को अपने परिवार के 'स्वजन' मान लिया। इसी पारिवारिक या कौटुम्बिक वृत्ति से उनके मनमे यह निश्चय हुआ कि जो कुछ मेरा है वह सारा देश का ही है। यह भाव केवल सम्पत्ति तक ही सीमित नहीं था। उन्होंने अपने परिवार के छोटे-बड़े सभी को सेवा की ही दीक्षा दी। फलतः उनका घर सारे देश का घर बन जाता था और सच्चे अर्थ मे वह 'धर्मशाला' कहा जा सकता था। अपनी कोठी छोड़कर वह बंगले में

थे। मेरे कहने से सारे हिन्दुस्तान का वर्णन लिखना भी उन्होंने मंजूर किया था। इन बीस-पचीस सालों की डायरी हाथ में रखकर हिन्दुस्तान का आधुनिक इतिहास और गांधीजी की जीवनी लिखने की जिम्मेदारी उनके ही सिरपर थी। किन्तु ईश्वर ने उन्हें बीच में ही से बुला लिया। ईश्वर के कामों को अच्छे या बुरे कहने वाले हम कौन होते हैं! जिसने दिया उसी ने छीन लिया। उसकी लीला का पार अब तक कोई समझ नहीं सका है।

१९४२

के द्वारा अपना जीवन-सर्वस्व देशसेवा को अर्पण किया। असहयोग का अर्थ ही था त्याग और बलिदान।

जब बड़े-बड़े वकील अदालतों का बहिष्कार करके देशसेवा के लिये उद्यत हुए तब जमनालालजी ने सोचा कि ऐसे देशसेवक पैसे की तंगी मे रहें और मैं धन का संग्रह करता बैठूं यह कैसे चलेगा? उनका आत्मौपम्य जाग्रत हुआ और उन्होने लाख-दो लाख रुपये इस काम के लिए दे दिये।

इस कार्य के अनुभव मे से ही 'गांधी-सेवा-संघ' की उत्पत्ति हुई।

जमनालालजी ने धन-दान बहुत किया, अनेक धनिको को दान की दीक्षा भी दी, लेकिन धन-शक्ति उनकी प्रधान शक्ति नही थी। वे जितने भावुक थे और दानशूर थे, उससे अधिक वह बुद्धिशाली, व्यवहार-चतुर और कार्य-कुशल थे। हरएक संस्था को और उनके सम्पर्क में आनेवाले हरएक सेवक को जमनालालजी की कार्य-कुशलता का सहारा मिला है। अपनी स्वाभाविक कुशाग्र-बुद्धि को देश के सर्वोच्च नेताओं की बुद्धि के साथ कसकर उसे अधिक तेज बनाने का मौका उन्हें दिन-रात मिला और उससे उन्होने पूरा फायदा भी उठाया। जब महात्माजी हिन्दुस्तान मे पहली ही बार जेल मे गये तब जमनालालजी के श्री विट्ठलभाई पटेल के साथ जो संवाद होते थे, वे सुनने लायक थे। कांग्रेस की कार्यकारिणी में जमनालालजी का जो स्थान था वह केवल खजानची की हैसियत से न था। राष्ट्र की मंत्रणा मे उनकी ध्येय-निष्ठ व्यवहार-बुद्धि का भी काफी हिस्सा रहता था।

प्राचीन काल से हिन्दुस्तान की जनता कहती आयी है कि हिन्दुस्तान का राजनैतिक मसला अगर वैश्यो के हाथ मे रहता तो हिन्दुस्तान का उतना नुकसान न होता जितना कि ब्राह्मणों और क्षत्रियो की बुद्धि से हुआ है। सच तो यह है कि ब्राह्मणों की अनासक्ति, क्षत्रियों की वीरवृत्ति, वैश्यो की दीर्घदर्शिता और शूद्रों की सेवा-परायणता का जब ईश्वर निष्ठा के साथ एक रसायन बन जाता है, तभी

'कौटुम्बिक सद्गुणों का व्यापक पैमाने पर विकास करो और सारी वसुधा को एक संयुक्त कुटुम्ब समझो' यह गांधीजी का आदेश श्री जमनालालजी ने अपनाया। उनके लिये यह स्वाभाविक भी था। और यही कारण है कि देश के अधिक-से-अधिक लोग, हिन्दू और मुसलमान, ईसाई और पारसी, जमनालालजी को 'स्वजन' मानने लगे हैं।

ऐसे सर्व-स्वजन कभी मर नहीं सकते। पुनर्जन्म का सवाल यहां है। जितने लोगों से श्री जमनालालजी का सम्बन्ध आया, उन सबके हृदय में वह जन्म ले चुके हैं और वहीं पर उनकी आयु और कार्य-शक्ति बढ़ती जा रही है। द्विजगण जिस तरह अपने अण्डे का कवच छोड़ देते हैं और विशाल विश्व में प्रवेश करते हैं, उसी तरह श्री जमनालालजी ने अपना चोला छोड़ दिया है। उससे उन्होंने कम काम नहीं लिया था। अब यह चतुर बनिया अपने सब मित्रों और सहयोगियों के जीवन में घुस कर उनसे कसकर काम लेना चाहता है।

जिसने उनके प्रेम का जितना अनुभव किया हो उतनी सेवा उसे अब तन-मन-धन से करनी ही होगी।

१९-२-४२

।दप

श्री जमनालालजी बजाज

ता० ३० जनवरी से १२ फरवरी तक के अवकाश को हम बापू-पक्ष कह सकते हैं। इस पितृ-पक्ष में श्री जमनालाल बजाज की पुण्य तिथि एक महत्त्व का दिन है। जमनालालजी ने बापू को अपना हृदय-सर्वस्व और शक्ति-सर्वस्व अर्पण किया था। और जमनालालजी की माँगपर बापूजी ने अपने एक शिष्योत्तम को जमनालालजी को अर्पण किया था। यही कारण था कि श्री विनोबाजी साबरमती छोड़कर वर्धा में जा बसे।

जमनालालजी ने अपनी सेवा और अपनी निष्ठा जो गांधीजी को अर्पित की, उसका असली कारण था दोनों की असीम धर्म-परायणता। जमनालालजी में 'सद्-शील हिन्दू' की परम्परागत धर्म-परायणता थी और गांधीजी हिन्दू धर्म के प्राणतत्व को पहचानकर उसे सजीवन करने पर और उसे नया कलेवर देनेपर तुले हुए थे। इसीलिए गांधीजी और जमनालालजी का सम्बन्ध इतना जीवन-व्यापी और घनिष्ट बना था। जिस मात्रा में गांधीजी ने कांग्रेस को अपनाया उसी मात्रा में जमनालालजी ने भी कांग्रेस को अपनाया और उसकी शक्ति बढ़ाने में अपनी शक्ति लगा दी।

भारत में राजनैतिक, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता स्थापित करने में गांधीजी को जो सफलता मिली वह लोकोत्तर थी। असंख्य जातियों और अनेक वर्णोंवाले हिन्दू-समाज को एक-हृदय बनाना और उस के हृदय में इस्लामी, पारसी ईसाई आदि समाजों के प्रति

समभाव पैदा करना भी गांधीजी की लोकोत्तर विजय थी। जमनालाल जी गांधीजी की इस भावना को समझ सके थे। इसीलिए वे गांधी-कार्य को हर दिशा में बढ़ा सके और कांग्रेस को भी मजबूत कर सके।

अगर भारत की सांस्कृतिक एकता स्थापित करने में मुसलमान समाज का पूर्ण सहयोग गांधीजी को न मिल सका तो वह गांधीजी के कौशल्य की कमी नहीं, बल्कि, गांधी-युग के भारतीय मुसलमान समाज की नैतिक कमजोरी थी। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और सर्व-धर्म-समभाव के लिए गांधीजी ने जितनी भी कोशिशें की उन सब में श्री जमनालालजी का पूरा-पूरा हार्दिक सहयोग था।

जमनालालजी को अपने जन्मदिन पर कुछ नये संकल्प करके, उन्हें सिद्ध करने के लिये साल भर कोशिश करने की आदत थी। अपना एक साल का एक संकल्प उन्होंने मुझे बताया था। उसमें एक बात यह भी थी कि, 'मैं इस साल नये-नये विविधधर्मी—मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि – व्यक्तियों का स्नेह-सम्पादन करने की कोशिश करूंगा।'

गांधीजी के और जमनालालजी के स्वभाव में एक सुन्दर समान-तत्व था जिसके कारण वे अपने-अपने कार्य में इतनी सफलता पा सके और अपने व्यक्तित्व की खुशबू सर्वत्र फैला सके। वह तत्व था, उनकी विशाल पारिवारिक भावना। इस एक खूबी में मानों पिता-पुत्र के बीच तेजी से होड़ चलती थी। गांधीजी ने जिस व्यक्ति को अपनाया उसे और उसके परिवार को अपनाने की उत्सुकता जमनालालजी में भी पाई जाती थी। इतना ही नहीं, सारे भारत में जिन-जिन लोगों ने राष्ट्रसेवा करने के लिए अपना जीवन अर्पित किया उन सब को वे एक तरह से अपने कुटुम्बी समझते थे—भले ही ऐसे कार्यकर्ता राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करते हों या धार्मिक अथवा रचनात्मक कार्य-क्षेत्र में। शिक्षण-क्षेत्र की महत्ता जमनालालजी विशेष रूप से मानते थे।

जब किसी कारण एक बार गांधीजी ने वर्धा का महिलाश्रम बन्द

जमनालालजी की जीवन साधना

[illegible] किया और उनके [illegible] एक मन, एक हृदय, [illegible] है।

[illegible] कस्तूरबा [illegible] गांधीजी के समस्त जीवन [illegible] था। कस्तूरबा के बारे में [illegible] She was born to be a Queen, [illegible] था। [illegible] होने के नाते [illegible] ने यह नहीं कहा था।

दूसरे व्यक्ति हैं महादेवभाई देसाई। महात्माजी के साथ मानो उनकी आध्यात्मिक शादी ही हो गयी थी।

तीसरे व्यक्ति थे, श्री जमनालाल बजाज। उन्होंने अपनी सारी जायदाद, अपनी कार्यकुशलता और सेवाशक्ति गांधीजी के चरणों में अर्पण की थी। उन्होंने अपने सारे परिवार को भी गांधीसेवा में लगा दिया था। आज ता० ११ फरवरी को हम उनका स्मरण-चिन्तन करने के लिए उनका श्राद्ध करने के लिए यहां इकट्ठा हुए हैं। और आज हमारा यह भी सद्भाग्य है कि जमनालालजी में जो आध्यात्मिक भूख थी, आत्मोन्नति की तमन्ना थी, आत्मशुद्धि के द्वारा जीवनसिद्धि प्राप्त करने की उनकी जो कोशिशें थीं, उनका चित्र करीब उन्हीं के शब्दों में

है। लेकिन श्री जमनालालजी ने जो कहा है उसी को विशेष रूप से समझने की मैं कोशिश कर रहा हूं।

हमारे देश में ही नहीं, दुनिया के दूसरे देशों में भी यह लोक-मान्यता है कि लोकोत्तर आध्यात्मिक साधना तो पुरुष ही कर सकते हैं। स्त्रियों में वह माद्दा है नहीं। मुझे स्मरण है कि वन्देमातरम् राष्ट्रगीत के कर्ता बाबू बंकिमचन्द्र ने अपने किसी उपन्यास में लिखा है, 'स्त्री पुरुष की सहधर्मचारिणी है सही, जीवन-साधना में यह उत्तम सहायक होती है, लेकिन केवल मामूली दुन्यवी जीवनक्रम में ही। आध्यात्मिक साधना में स्त्री विघ्न रूप है। उसको टालना ही चाहिये।' यह हुआ एक उपन्यासकार का अभिप्राय। इस्लाम में और ईसाई धर्म के आदिकाल में लोगों का यही अभिप्राय था कि स्त्री-जाति मोक्ष की अधिकारिणी है ही नहीं। इस्लाम के चन्द ज्ञाता यहां तक कहते हैं कि 'स्त्री में प्राण और बुद्धि भले ही हो, किन्तु स्त्री में आत्मा है नहीं।'

मानवजाति ने स्त्रियों के प्रति यह बड़ा अन्याय किया है। स्त्री को अधीन रखकर उससे सब तरह की सेवा लेना, उसे स्वतन्त्र रूप से जीवन-साधना करने का मौका नहीं देना और इस पर कहना कि 'स्त्री में मोक्ष-साधना का माद्दा है ही नहीं; तत्त्व ही नहीं' सरासर अन्याय है। प्राचीनकाल में चन्द स्त्रियों ने अपनी लोकोत्तर जीवन-साधना द्वारा ऊपर के प्रवाद का रद्दिया (जवाब) दे ही दिया है। याज्ञ-वल्क्य के साथ जीवन-यापन करनेवाली मैत्रेयी और आध्यात्मिक वाद

लेकिन कबूल करना पड़ता है कि मोक्ष-साधना के इतिहास में साधन-वीर पुरुषों की संख्या जितनी है उसे देखते स्त्रियों की संख्या नगण्य तो नहीं, बहुत कम है।

अब युग आ गया जब कि स्त्रीजाति को अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए अध्यात्ममार्ग में मौलिक और उत्कट साधना के प्रयोग करने चाहिये। मैं तो मानता हूँ कि स्त्री-जाति में जो नम्रता है, जीवननिष्ठा है, आत्मार्पण-बुद्धि है और भावना का उत्कर्ष और विस्फोट होने पर सर्वस्व का त्याग करने की, फना होने की तैयारी है उसे देखते 'दुनिया को देने योग्य, कोई असाधारण, लोकोत्तर मोक्ष-साधना स्त्रीजाति में भी प्रकट हो सकती है।

कुदरत ने प्राणि-कोटि में नर-मादा अथवा स्त्री पुरुष भेद पैदा किया है ताकि दोनों में जीवन-सहयोग चले और जीवन सम्पूर्ण एवं समृद्ध बने। मनुष्य-जाति में भी स्त्री-पुरुष का भेद कुदरत ने रखा है वह केवल प्रजोत्पत्ति के लिए अथवा दाम्पत्यजीवन के सहयोगी-सन्तोष के लिए ही नहीं है। जीवन का प्रयोजन ही जिस मोक्ष के लिए, मुक्त-जीवन के लिए है उसमें भी, निर्विकार जीवन-सहयोग में भी, स्त्री-जाति अपना हिस्सा अदा कर सकती है।

मेरे ख्याल से जो लोग बचपन से ही सन्यास लेकर समाज से अलग हो जाते हैं और निवृत्तिमय जीवन जी कर मोक्ष की साधना करते रहते हैं उनका जीवन सर्वश्रेष्ट नहीं है। जीवन-विमुख होने से जीवन की सम्पूर्णता प्राप्त नहीं होती। जो लोग ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेकर दाम्पत्य जीवन व्यतीत करते हैं और सामाजिक जीवन में अपने हिस्से की सेवा करते हुए विजय सेठ और विजया सेठाणी के जैसा मोक्षमार्गी गृहस्थाश्रम चलाते हैं, उनकी कोटि ही श्रेष्ट है। 'मोक्ष के लिए स्त्री और पुरुष एक-दूसरे का त्याग करें तभी बच सकते हैं,' ऐसे ख्याल से कुदरत ने स्त्री-पुरुष भेद पैदा किया होगा यह बात ध्यान में नहीं आती। स्त्री में

और पुरुष में अपनी-अपनी विशेषता है। निर्विकारी सहजीवन के द्वारा जीवन-सेवा करते, मोक्षमार्ग का रास्ता तय करते जाना यही अन्तिम साधना हो सकती है।

ऐसी साधना में साधक को कभी-कभी पुरुषों से जो शान्ति नहीं मिल सकती, सन्तोष नहीं होता सो स्त्रीजाति की आध्यात्मिक सिद्धि से शायद खास तौर पर मिलता होगा।

इस चिन्तन में केनोपनिषद का रहस्य मेरी मदद में आ रहा है।

किसी समय परब्रह्म ने देवों के लिए विजय प्राप्त कर लिया। विजय से उन्मत्त होकर देव मानने लगे, 'हमारी ही यह विजय है। हमारी ही यह महिमा है।' परब्रह्म ने देख लिया कि ये देव अज्ञान से अन्धे बन गये हैं। इन्हें कुछ चमत्कार दिखाना चाहिए। ब्रह्म अद्भुत रूप धारण करके उनके सामने खड़ा हुआ। देव पहचान नहीं सके कि यह अद्भुत आविर्भाव क्या है, कौन-सी वस्तु है? (उपनिषद में इसके लिए शब्द रखा है 'यक्ष'। यक्ष का अर्थ यक्षा नहीं किन्तु अज्ञात किन्तु पूजन वस्तु।) देवों ने अपने नेता अग्नि से कहा — 'ये क्या यक्ष है? इसका पता लगा के इसकी पहचान कीजिए।

जिस तरह स्वराज्य की उत्कट साधना करते हुए गांधीजी ने जीवन के किसी भी पहलू की उपेक्षा नहीं की थी उसी तरह जमनालालजी भी राष्ट्रीय जीवन के किसी एक ही क्षेत्र में अपने को न बांधते हुए और एक का ही पुरस्कार न करते हुए उत्कर्ष के लिए सब क्षेत्रों में दिलचस्पी रखते थे और सब क्षेत्रों के राष्ट्रसेवकों को आत्मीयभाव से अपनाते थे।

गाँधीजी के साथ एकरूप होनेवाले माता कस्तूरबा, महादेवभाई और जमनालालजी का मनमें श्राद्ध करते हुए एक प्रश्न उठा कि इन तीनों ने गांधीजी के निर्वाण के पहले ही क्यों इस दुनिया से विदा ली ? अपनी गांधी-सेवा उन्होंने बीच में ही क्यों छोड़ दी ? श्रद्धा ने जवाब दिया, "शायद भगवान गांधीजी से नये अवतार में जो भी काम लेने वाले हों उसकी पूर्व तैयारी करने के लिए भगवान् ने इन तीनों को इस दुनिया से खींचकर नये कार्य में लगा दिया होगा। भगवान् की लीला निश्चित रूप से कौन जान सकता है ? हम तो केवल कल्पना ही कर सकते हैं। जो हो, गांधी-पुण्यतिथि के इन दो सप्ताहों में इन राष्ट्रपुरुषों का चिंतन करके उनका श्राद्ध हम सम्पन्न करें और अपने भाग का राष्ट्रकार्य करते हुए अपनी जीवन-यात्रा पूरी करें !"

ता० ११-२-६८ को बम्बई में श्री जमनालालजी की पुण्यतिथि के अवसर पर दिया हुआ भाषण।

राष्ट्रमूर्ति राजेन्द्रबाबू

बाबू राजेन्द्रप्रसाद भारत के पहले राष्ट्रपति थे। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के वे अध्यक्ष रह चुके थे। स्वतन्त्र भारत ने जिस सभा के द्वारा अपने लिये विधान बनाया उस विधान परिषद के भी वे अध्यक्ष थे। न जाने भारत की कितनी राष्ट्रीय संस्थाओं के सम्मेलनों और परिषदों के वे अध्यक्ष थे। भारत की भावनात्मक एकता दृढ़ करने के लिए जब गांधीजी ने वर्धा में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना की तब उन्होंने राजेन्द्रबाबू को उसके अध्यक्ष स्थान पर बिठाया और स्वयं उपाध्यक्ष बने। राजेन्द्रबाबू अपनी विद्वत्ता, चारित्र्य, राष्ट्रभक्ति, स्वराज्य-सेवा और गांधी-कार्य की अनन्य निष्ठा के कारण सारे राष्ट्र के लिए पूज्य बने ही थे। स्वराज्य के अन्तिम संघर्ष में अपनी तेजस्विता प्रगट करते हुये भी उन्होंने अपने साथ-साथ सात्त्विक, मिलनसार, उदार और अजातशत्रु स्वभाव का भी परिचय दिया था। भारतीय संस्कृति के वे एक अच्छे प्रतिनिधि थे। और इन सब विभूतियों के कारण उनका भाग्य भी उज्ज्वल था। इसीलिये राष्ट्र ने उनको राष्ट्रपति के पद के लिए दो बार चुन लिया। और यह भी भूलना नहीं चाहिए कि भारत की रक्षा के लिए राष्ट्र ने जो सेना रखी है उसके भी वे विधानतः सर्वोच्च सेनापति थे। इतना होते हुए भी गांधीजी के आदर्शों के प्रति निष्ठावान होने के कारण और दुनिया के अनुभव का निचोड़ पहचानने के कारण उन्होंने अपना विश्वास प्रगट किया कि भारत जैसे देश को सैन्यविसर्जन का प्रयोग, इकतरफा प्रयोग भी, आजमाना चाहिये।

हम जब राजेन्द्रबाबू को राष्ट्रमूर्ति कहते हैं तब ऊपर की ध्यान में लाकर ही कहते हैं।

हमारे राष्ट्रीय जीवन पर जिन तीन भाषाओं का अधिक-से असर है उन तीनों का राजेन्द्रबाबू का अच्छा अध्ययन था फारसी और अंग्रेजी। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार

लिये जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई तब श्री मालवीयजी और श्री टण्डनजी के साथ राजेन्द्रबाबू भी उसके एक संस्थापक थे।

विहार की भूमि राजा जनक, भगवान् बुद्ध तथा महावीर स्वामी और सम्राट अशोक की कर्मभूमि थी। और हमें भूलना नहीं चाहिये कि बिहार की प्रजाधानी पटना सिक्खों के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह का जन्म स्थान भी है।

और विहार का भाग्य भी कैसा ? आतंकवादी लोगों का पहला बम का प्रयोग भी बिहार में हुआ और अहिंसक प्रतिकार के शस्त्र का गांधीजी का सत्याग्रही प्रयोग भी भारत में सबसे प्रथम विहार में ही हुआ। खनिज सम्पत्ति में कोयला और उद्भिज सम्पत्ति में चावल तथा गन्ना दोनों के लिए विहार में स्थान है। और मैं तो कहूँगा गिरमिटिया के रूप में अपमान का कलंक सहन करते हुए जो भारतवासी परदेश में जाकर बसे उन में भी बिहार के लोग काफी थे, यह भी इतिहास-विधाता की ही योजना समझनी चाहिए। भारत को अपने पहले राष्ट्रपति इसी विहार की भूमि से मिले यह बात भी सब तरह से उपपन्न ही है।

विहार में जब सन् १९३४ में भयानक भूचाल हुआ तब संकट निवारण के काम का सारा बोझ श्री राजेन्द्रबाबू ने उठाया। हमें इस बात का गौरव है कि इस असाधारण सेवाकार्य को संगठित करने के लिये राजेन्द्रबाबू ने सब से पहले मदद माँगी हमारे साबरमती के सत्याग्रहाश्रम से ही। कुदरत के इस प्रकोप से जनता का रक्षण करने के लिये जो दो धन संग्रह इकट्ठा हुये—एक व्हाइसरॉय का, एक राजेन्द्र-बाबू का, तब उन दोनों में काफी होड़ चली। भारत की अंग्रेज सरकार ने अपना प्रभाव चलाया। फलतः धनी लोगों ने सरकारी फंड में काफी धन दिया। इधर राष्ट्र की स्वराज्य भक्ति भी कम नहीं थी। इसलिये राष्ट्र ने राजेन्द्रबाबू के फंड में भी अच्छी-अच्छी रकमों की बारिश चलाई। और इस होड़ में स्वराज्य-प्रेमी राष्ट्र हारा नहीं। तभी से लोग कहने लगे कि स्वराज के प्रमुख तो राजेन्द्रबाबू ही होंगे।

आदरांजलि

साधुचरित डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी प्रखर बुद्धि के वकील थे, दीर्घदर्शी राष्ट्र नेता थे। अपनी दीर्घकालीन सेवा से वे पूजनीय राष्ट्रपुरुष बने। उन का जीवन विविध राष्ट्र-कार्यों से भरा हुआ था। और उन की विशेषता यह थी कि उन के जीवन में उन की किसी से शत्रुता नहीं हुई। सचमुच वे अजात-शत्रु थे। इसीलिये गांधीजी के पवित्र मार्ग से जब देश आजाद हुआ तब राजेन्द्रबाबू स्वतंत्र भारत के प्रथम अध्यक्ष सर्वानुमति से चुने गये। अपनी सेवा के द्वारा और सात्त्विकता के द्वारा वे गांधीजी के श्रेष्ठ साथी बने।

जब राजेन्द्रबाबू का राष्ट्रपति के तौर पर अभिनन्दन करने मैं दिल्ली के राष्ट्रपति-भवन में गया, तब मेरे मन में प्रथम विचार यही आया कि सम्राट अशोक जब पाटलीपुत्र के सिंहासन पर बैठे थे तब उनके मातहत जितना भारत था उससे अधिक विस्तीर्ण और संपन्न भारत के राष्ट्रपति का मैं अभिनंदन कर रहा हूँ।

राजेन्द्रबाबू का पहला परिचय मुझे कब हुआ इस का स्मरण इस वत नहीं है, मानो हम पहले से एक-दूसरे को पहचानते थे। जब ी वे गांधीजी के आश्रम में आते थे तब हम उन्हें अपने आश्रम के यी ही मानते थे। उनकी सादगी, उन का संयमित जीवन और रचना-क कार्यों के प्रति उन की भक्ति देखकर हम मान ने लगे थे कि ाजेन्द्रबाबू भी आश्रमवासी ही हैं।

जब बिहार में भीषण भूचाल हुआ तब मैं बिहार की सेवा के लिए पहुँच जाता, लेकिन उस समय मैं ब्रिटिश राज के खिलाफ सत्याग्रह करने में व्यस्त था। इसलिए मैंने अनेक आश्रमवासियों के साथ अपने छोटे लड़के को बिहार की सेवा में भेजा। मेरे लड़के ने राजेन्द्रबाबू से वही वात्सल्य पाया जो उसे आश्रम में महात्माजी से मिलता था।

इन्दौर के प्रथम हिंदी साहित्य सम्मेलन के बाद गांधीजी ने दक्षिण के चार प्रांतों में हिन्दी का प्रचार शुरू किया तब मेरे मित्रों ने यह काम अपने सिर पर लिया।

जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन दुबारा इन्दौर में हुआ तबसे हिन्दी सेवा का भार मेरे सिर पर आया और नागपुर अधिवेशन के बाद भारत के बाकी के आठ अहिंदी प्रांतों में काम करने के लिये हमने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना वर्धा में की। तब से पूजनीय राजेन्द्रबाबू के साथ का मेरा संबंध घनिष्ठ हुआ। बिहार ने हिन्दी प्रचार के लिये गांधीजी को अच्छी सहायता दी।

जब कभी मैं बिहार जाता तब पटना में सदाकत आश्रम में राजेन्द्रबाबू के यहां ठहरता। और राजेन्द्रबाबू के परिवार के सब लोग गांधी जी के आश्रम में आकर रहते ही थे। इस तरह हमारा पारिवारिक संबंध बढ़ा। मुझे कहते संतोष होता है कि ऐसा नजदीक का संबंध बढ़ने पर राजेन्द्रबाबू के प्रति मेरा आदर परिचय के कारण घटा नहीं बहुत कुछ बढ़ा ही।

इस राष्ट्रपुरुष का आंतर-बाह्य जीवन इतना निर्मल था कि उन्हें दूर से देखें या नजदीक से, उन के प्रति आदर बढ़ता ही जाता था।

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जो भी काम मुझे सौंपते थे उन का पालन करने में मैंने अपना गौरव ही माना।

आज समूचा भारत बिहार राज्य को 'राजेन्द्रबाबू का बिहार' कहता है। और आजादी के बाद जब जब मैं परदेश गया हूँ—फिर वह जापान हो या अमेरिका, रशिया हो या आफ्रिका, मैं वहाँ के लोगों से कहता आया हूँ कि आप गांधीजी के भारत को जैसे नेहरू का भारत कहते हैं वैसे ही आप को भारत को 'राजेन्द्र का भारत' के तौर पर पहचानना चाहिये। राजेन्द्रबाबू देखने में भारत के किसान के जैसे दीख पड़ते थे इसका भी मैंने अनेक देशों में गौरव के साथ उल्लेख किया है। ✶

चिर-जीवी सरदार

सरदार वल्लभभाई पटेल सच तो हमारे श्री शिवाजी और लोकमान्य तिलक की परंपरा के थे। किन्तु उन्होंने देखा कि आज का युगधर्म अहिंसा का है। हिन्दुस्तान गांधीजी के प्रभाव के नीचे अवश्यमेव आयेगा इसलिये उन्होंने गांधीजी का नेतृत्व मंजूर किया। और एक सच्चे और निष्ठावान सिपाही की दृढ़ता से उन्होंने उस नेतृत्व को मान्य रखा।

यह कहना गलत है कि अगर वे गांधीजी के असर तले नहीं आते तो अपनी बैरिस्ट्री में ही डूबे रहते और दुनिया के मशहूर बैरिस्टरों के जैसे धन के ही पीछे पड़ते। गांधीजी की सच्चाई और उन की देश-भक्ति से अगर वे प्रभावित नहीं होते तो दूसरे किसी रास्ते से देशसेवा के क्षेत्र में वे आ ही जाते।

गांधीजी के ढंग की धर्मपरायणता सरदार वल्लभभाई में नहीं थी। किन्तु कुलपरम्परा से वे स्वामीनारायण संप्रदाय के थे। और उस संप्रदाय में जो एक प्रकार की खास व्यक्ति-निष्ठा पाई जाती है वह उन में थी। वह निष्ठा उन के कौटुंबिक जीवन में और खास कर के अपने बड़े भाई विट्ठलभाई पटेल के प्रति जो आदर वे रखते थे उस में व्यक्त हुई है। वही निष्ठा उन्होंने उज्ज्वल रूप में गांधीजी के प्रति बताई।

श्री विट्ठलभाई और वल्लभभाई दोनों समर्थ पुरुष थे। दोनों ने गांधीजी का प्रभाव पहचाना था। लेकिन स्वभावभेद के कारण दोनों

के मार्ग भिन्न हुए। वल्लभभाई ने अपनी निष्ठा गांधीजी के चरणों में अर्पण की थी तो भी अपने बड़े भाई के प्रति उन्होंने अपना आदर कम नहीं होने दिया। जिस ढंग से वे आखिर तक अपने बड़े भाई से पेश आये उससे वल्लभभाई के मुलायम सद्गुणों की पहचान हुई।

मनुष्यमात्र में जो मानवता, आत्मा और तेजस्विता सोई हुई रहती है उसे जाग्रत करने की असाधारण शक्ति गांधीजी में थी। ऐसी जागी हुई शक्ति को मजबूत बनाना और उसे फौलाद के जैसे धार देना यह काम तो वल्लभभाई का ही था। *गांधीजी ने सारे देश की चारित्र्य का तेज दिखाया और लोगों को शूर बनाया।* सरदार वल्लभभाई ने खेड़ा और बारडोली के दिनों में गुजरात के लोगों को सहयज्ञ बनाया। गांधीजी ने फौज तैयार कर दी। वल्लभभाई ने अपनी असाधारण युद्ध-कुशलता से उस सेना से काम लिया और विजय हासिल कर दिखाई।

कहते हैं कि सोने में जब थोड़े तांबे का मिलान करते हैं तब सोना मजबूत बनता है। उस में तेज भी आता है और उस की आवाज भी सुनती है। गांधीजी में तत्वनिष्ठा का सोना था। उन में व्यवहार-कुशलता कम न थी। लेकिन वे ठहरे कालदर्शी। आज का मिलाया हुआ तांबा आगे जाकर किसी न किसी दिन नुकसान करेगा इस ख्याल से वे तांबे से जहाँ तक हो सके परहेज ही रखते थे। वल्लभभाई की नजर हमेशा विजय की ओर रहती थी। वे कदर करते थे सोने की ही। सोने से ही उन्हें काम लेना था। लेकिन सोने में व्यवहार-दृष्टि का तांबा मिलाने में उन्हें कोई संकोच नहीं था। सारी दुनिया जानती है कि शुद्ध सोने की मोहर की अपेक्षा मिलान वाले सोने की गिन्नी की मजबूती ज्यादा होती है।

सहयज्ञ होने के कारण सरदार वल्लभभाई विरोधियों की कमजोरी तुरंत पहचान लेते थे और उसी पर प्रहार करके उन्हें मात करते थे। गांधीजी ठहरे अजातशत्रु। अपने लोगों को ऊपर चढ़ाने की जैसी

बढ़ाने मे करते रहना। कहते हैं कि किसी श्यामवर्ण आदमी ने अपने इर्द-गिर्द शालिग्राम के जैसे काले नौकर रखे थे ताकि उस का वर्ण हमेशा उजला दिख पड़े। ऐसे ही, देशी राजाओं की मनमानी राज्यप्रणाली के मुकाबले मे अंग्रेजो का कानूनी राज हमेशा अच्छा ही दीख पड़ता था।

सरदार वल्लभभाई ने इन राजाओं की कमजोरी पहचान ली। यह भी उन्होंने देख लिया कि वे आरामतलब और सलामती-परस्त हैं। लॉर्ड वेलस्ली ने सब्सिडिअरी सिस्टिम के जरिये इन सब राजाओ की चोटी अपने हाथ मे ले ली थी। सरदार वल्लभभाई ने गाधीजी से मशविरा कर के उसी नीति को पूर्ण कर दिया और प्रजा-राज्य को मजबूत किया।

मेरा अपना विश्वास है कि अगर सरदार वल्लभभाई को समय मिलता तो गाधीजी के ढग का ही अनुसरण करके वे इन राजाओं के पुनरुद्धार की पूरी कोशिश करते। ये राजा कैसे भी हो अपने ही देश के लोग हैं। इन मे परंपरा से प्राप्त हुए चद सद्गुण हैं। अंग्रेजो ने उनके सद्गुणों को दबा दिया। उनके दुर्गुणो को बढ़ावा दिया। इसलिए अपनी प्रजा की स्वतत्रता की ओर वे उदासीन या प्रतिकूल हुए। प्रजाराज्यो को मजबूत करने के बाद इन राजाओ को प्रजा सेवा के अच्छे मौके देने ही चाहिये। इन लोगो को गवर्नर आदि की जगह देकर या परदेश भेजकर इन से अच्छी सेवा ली ही जा सकती है। मैं मानता हूँ कि थोडे ही दिनों में ये छोटे मोटे सब राजा लोग चुनाव में खड़े हो जायेंगे और अपनी सारी शक्ति प्रजा का विश्वास हासिल करने में लगा देंगे। उनके पास धन है, कुछ प्रतिष्ठा भी है, परपरा है। और अपनी बात सिद्ध करने के लिये क्या क्या खूबियाँ करनी चाहिये इसका भी उन्हें ज्ञान है। अगर वे चुनाव मे खड़े हो जायेंगे तो आजकल के कई नेताओ को उनका सामना करना कठिन होगा। मेरा अपना ख्याल है कि अगर सरदार वल्लभभाई तब तक जीते रहते

तो इन सब राजाओं को वे चुनाव में खींच लेते और उनको प्रजासेवा की नयी दीक्षा दे देते।

जो योग्यता विलायत में रहकर नामदार आगाखान ने पायी है, महत्त्वाकांक्षा जाग्रत होने पर वही योग्यता चंद राजाओं में आ सकती है। सरदार वल्लभभाई के उत्तराधिकारी का यह प्रधान काम होगा कि सब राजाओं को प्रजासेवा में ले लें।

बारडोली के संग्राम का इतिहास श्री महादेवभाई देसाई ने लिखा ही है। सरदार वल्लभभाई के भाषणों का संग्रह गुजराती में प्रकाशित हो चुका है। उनकी जीवनी भी नवजीवन प्रकाशन मंदिर की ओर से प्रकाशित हुई है। पिता-निष्ठ कुमारी मणिबहन ने दोनों के लिये सब मसाला इकट्ठा किया था। श्री नरहरिभाई परीख ने वल्लभभाई का जीवन-चरित्र लिखा है। इनसे बढ़कर चरित्रकार शायद ही दूसरे कोई मिलते।

गुजरात से बाहर के लोग मणिबहन को पिता की स्वास्थ्य-रक्षिका के तौर पर ही पहचानते हैं। स्वराज्य-संग्राम के दिनों में मणिबहन ने जो तेजस्विता दिखाई है और रचनात्मक कार्यक्रमों में भी जो प्रगति की है उसका वर्णन देश के सामने आना चाहिये। पिता के अवसान तक उसने एकाग्र-निष्ठा से पिता की सेवा की। जिस देश को स्वतंत्र और मजबूत करने के लिए पिता ने अपना सारा जीवन अर्पण किया उसी देश की उज्ज्वल सेवा करने का मौका मणिबहन को मिलना चाहिए। तभी उसके व्यक्तित्व के सब पहलुओं का परिचय देश को होगा। इन सब पहलुओं का सूचन पाने पर ही महात्माजी ने एक दफे संतोष से कहा था कि "मणि तो सचमुच मणि ही है।"

देश के अधिक से अधिक लोगों से जिस तरह महात्माजी परिचित थे उसी तरह सरदार वल्लभभाई भी हरेक प्रांत के तमाम देश-सेवकों

को कम या अधिक पहचानते थे और किस से कौन सा काम लेना चाहिये उसका निर्णय कर सकते थे। यह शक्ति अब जिसकी होगी वही सरदार वल्लभभाई की परम्परा आगे चला सकेगा।

सरदार की मृत्यु से देश को बड़ा नुकसान हुआ है। उनकी सलाह और उनका नेतृत्व अब हमें नहीं मिलेगा। लेकिन उन्होंने जो एक प्रणाली तैयार की है उसके जरिये वे देश की सेवा करते ही रहेंगे। सरदार गये; लेकिन देश सेवा का जो उज्ज्वल आदर्श उन्होंने देश के सामने खड़ा किया है वह गया नहीं है। उसका हम संवर्धन अवश्य कर सकते हैं। और महात्माजी के और सरदार के सब स्वप्न सिद्ध करने की पराकाष्ठा भी कर सकते हैं।

जनवरी, १९५१

किशोरलालभाई

गांधीजी के आश्रम में शुरु से दाखिल होनेवालों में श्री किशोरलाल भाई, श्री नरहरि भाई और मैं, हम तीनों का विशेष सहयोग था। क्योंकि आश्रम की शाला या विद्यामन्दिर चलाने का भार हम तीनों पर विशेष रूप से था।

बाद में जब राष्ट्रीय शिक्षण को राष्ट्रव्यापी रूप देने का संकल्प गुजरात ने किया तब गुजरात विद्यापीठ की स्थापना करने का और उसे चलाने का भार भी हम तीनों पर विशेष रूप से आया। नवजीवन प्रकाशन मंदिर के लिये लेखन-सामग्री अर्पण करने का भार भी हम तीनों पर एक-सा था। और जब महात्मा जी ने नोआखाली के ब्रह्मयज्ञ में सर्वस्व अर्पण करने का निश्चय किया तब उनके अखबार चलाने का भार भी उन्होंने श्री विनोबाजी और हम तीनों पर ही सौंप दिया था।

सत्याग्रहाश्रम के आश्रम-जीवन में ओतप्रोत होकर गांधीजी के आदर्शों को और सेवाकार्यों को व्यक्त रूप देने का भार औरों के साथ ही हम तीनों पर आया था।

इस तरह हम तीनों समानधर्मी और समव्यवसायी होते हुए भी श्री किशोरलालभाई ने अपनी विशेष निष्ठा से अपना एक स्वतंत्र और अद्वितीय स्थान सिद्ध कर दिया।

आश्रम में आने के पहले वे अकोला में वकालत करते थे। धार्मिक जीवन में उन की निष्ठा गुजरात के स्वामीनारायण सम्प्रदाय के प्रति और उस पंथ के संस्थापक स्वामी सहजानन्द के प्रति असाधारण रूप से थी। श्री ठक्करबापा के सेवाकार्य से प्रभावित होकर उन्हीं की सूचना से श्री किशोरलालभाई गांधीजी के पास आये। किशोरलालभाई और नरहरिभाई दोनों चंपारण में गांधीजी का कार्य करने के लिये जा पहुँचे। गांधीजी ने दोनों को पहचान लिया और कहा कि "तुम्हारा काम यहाँ नहीं है। तुम दोनों सीधे सत्याग्रह आश्रम में चले जाओ और वहाँ के राष्ट्रीय शिक्षण के कार्य में सम्मिलित हो जाओ।"

उन प्राथमिक दिनों में भी श्री किशोरलालभाई की सहृदयता और उन की साहित्य-शक्ति उनके 'विनय के मनोरथ' में प्रकट होती थी।

एकाग्र-निष्ठा श्री किशोरलालभाई का विशेष गुण था। हर एक क्षेत्र में वह पाया जाता था। शिक्षक के तौर पर उनकी अध्यापन-निष्ठा असाधारण थी। पति के नाते उन की पत्नीनिष्ठा भी इतनी ही उज्ज्वल थी। पत्नीनिष्ठा को सँभालने के लिये उन्होंने अपने मित्र-प्रेम को भी मर्यादित कर डाला था। गांधीजी के विचार अपनाने के लिये हृदय की जो उत्फुल्लता आवश्यक थी वह उनमें पूरी-पूरी थी। लेकिन वह किसी के अन्ध अनुयायी बन नहीं सकते थे। जितना बुद्धि-ग्राह्य होता उतना अपनाते थे।

किशोरलालभाई की स्वतन्त्र मनोवृत्ति को देखकर गांधीजी ने एक दफे कहा था कि "किशोरलालभाई की गाड़ी मेरी सड़क पर से नहीं चलती। लेकिन इन की सड़क मेरी सड़क से समान्तर चलती है।"

जब उनका श्री नाथजी से परिचय हुआ तब उन्होंने आश्चर्यचकित होकर देखा कि जो नाथ जी कहते हैं वही स्वामी सहजानंदजी के उपदेश

किशोरलालभाई में अपने इर्द-गिर्द विद्यार्थी-मण्डल, शिष्य-मण्डल, या अनुयायी-मण्डल इकट्ठा करने का माद्दा ही नही था। उच्च कोटि के अध्यापक होते हुए भी वे अपने विद्यार्थियों को कभी चिपकने नही देते थे। साथी के तौर पर उन्होने अकेली गोमती बहन का स्वीकार किया था। उस वैवाहिक आदर्श को दोनो ने उच्च कोटि को पहुँचाया।

लेकिन उनमे गुरुबन्धु के प्रति जो कौटुम्बिक भाव दीख पड़ता था उसे इस जमाने में नायाब ही कहना चाहिये। सरदार वल्लभभाई के और किशोरलालभाई के स्वभाव मे बहुत ही कम साम्य था। लेकिन श्री वल्लभभाई स्वामी नारायण सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसी कारण—और वल्लभभाई की उत्कट और उज्ज्वल देश भक्ति के कारण भी—श्री किशोरलालभाई उनके प्रति विशेष आत्मीयता से पेश आते थे।

श्री नाथजी जब मुझसे मिलने आश्रम मे आने लगे तब आश्रम के कई लोग नाथजी के प्रति आकर्षित हुए। और जब किशोरलालभाई का और नाथजी का विशेष सम्बन्ध बन गया तब नाथजी के सब शिष्यों को भी किशोरलालभाई ने विशेष रूप से अपनाया। गुरु-बन्धु को सहोदर से भी अधिक समझने का उनका स्वभाव था।

विक्रय के लिये नहीं

श्री किशोरलालभाई का सस्थाएँ स्थापन करने पर या चलानेपर तनिक भी विश्वास नही था। सस्थागत जीवन को वे महत्त्व का नही मानते थे। (मैं भी नही मानता हूँ।) लेकिन किसी सस्था का स्वीकार करने के बाद उसके प्रति पूर्णतया निष्ठा बताने का और उस की अनन्य सेवा करने का उनका स्वभाव ही था। यह स्वभाव उनकी गुजरात विद्यापीठ की सेवा में सबसे पहले प्रकट हुआ। अनेक लोगों से अनेक मतभेद होते हुए भी सबो के साथ प्रेम का सम्बन्ध रखकर उन्होंने विद्यापीठ के कठिन दिनों में उसकी उत्तम सेवा की। जब गाधीजी ने और श्री जमनालालजी ने श्री किशोरलालभाई के सिर पर गांधी सेवा संघ

तटस्थ रह कर दिशादर्शन कराने का असाधारण काम किशोरलालभाई ने करके अपनी स्थितप्रज्ञता जाहिर की। तत्त्वनिष्ठा, नम्रता, कर्मानुवृत्ति और प्रेम ऐसे श्रेष्ठ सद्गुणों का इनमें समन्वय था, इस लिए वे यह सब काम सफलतापूर्वक कर सके। गांधीजी में इन्हीं गुणों का उत्कर्ष होने के कारण गांधीजी किशोरलालभाई की योग्यता समझ सकते थे और किशोरलालभाई के साथ मतभेद होने पर गांधीजी को असाधारण मनोवेदना होती थी।

पू० कस्तूरबा, जमनालालजी और महादेवभाई बापू के पहले चले गए। श्री किशोरलालभाई और सरदार वल्लभभाई इनके पीछे चले गए। इसका मैं यही अर्थ करता हूँ कि गांधीजी के सिद्धांतों का अब नया ही अवतार प्रकट होनेवाला है, जिसके लिए हिन्दुस्तान की कर्मभूमि पर नये प्रयोग की आवश्यकता है।

१९५२

श्री कुमारप्पा

: १ :

साल गिरह

मैं तो कुमारप्पा को हमारे देश के साधुचरित संतपुरुषों में एक विशेष रूप का व्यक्ति मानता हूँ। अगर कोई उन का नाम संतों की मालिका में लिखना चाहता तो कुमारप्पा स्वयं नाराज होते और उसकी हँसी उड़ाते। उन के स्वभाव में विनोद इतना भरा हुआ था और जीवन की छोटी से छोटी चीजों में भी इतना रस लेते थे कि उनकी अलिप्तता आसानी से ध्यान में नहीं आती थी।

किसी ने सही कहा है कि कुमारप्पा झगडालू थे। अगर स्वर्ग गये तो भी भगवान् से झगड़ा करते चूकेंगे नहीं। बात सही है। किन्तु सात्विक ढंग से झगड़ा चलाने का शास्त्र वे जानते थे। स्वयं खिस्ती होने से स्वराज्य का धर्मयुद्ध छिड़ते ही उन्होंने ईसाई चर्च के धर्माधिकारियों को आड़े हाथों लिया। बिहार के भूचाल के दिनों में श्री राजेन्द्रबाबू के साथ घनिष्ठ रूप से काम करने वाले कुमारप्पा को उन का राष्ट्रपति बनना पसंद नहीं आया। तुरन्त उन के सामने ही उन्होंने अपनी नापसंदगी स्पष्ट रूप से जाहिर की। मेरे साथ उन की बहुत अच्छी बनती थी। विद्यापीठ के दिनों में श्री कुमारप्पा ने मुझे कीमती साथ दिया था। मुझसे भी कभी-कभी वे लड़ लेते थे। लेकिन इससे तो हम एक-दूसरे के अधिक नजदीक आते थे।

जब गाधीजी का 'यग इण्डिया' चलाने का भार श्री कुमारप्पा के सिर पर आया तब उन्होंने जो लेख लिखे, अधिकांश तीखे थे। कुमारप्पा की लेखनशैली के बारे मे जब हमारी चर्चा छिडी, तो गाधीजी ने हँसते-हँसते कहा, मद्रास का आदमी जो ठहरा! उसके लेखन मे मिर्च की मात्रा अधिक रहेगी ही। एक दफा श्री दादासाहब मावलकर से कुमारप्पा लड पडे थे। लेकिन उसमे दादा साहब का कसूर तनिक भी नही था।

राष्ट्रीय पचवर्षीय योजना मे या किसी अन्य समिति मे श्री जवाहरलाल जी ने कुमारप्पा की सहायता मांगी। कुमारप्पा खुशी से सदस्य हुए। लेकिन मौलिक मतभेद देखते ही गांधीजी से मशविरा कर के कुमारप्पा ने इस्तीफा दे दिया। किसी समय कुमारप्पा गाधीजी से भी लड पड़े थे।

लेकिन कुमारप्पा के स्वभाव की दो-चार बातें ध्यान मे रखने से स्पष्ट हो जाता है कि झगडा करने का सज्जनों का व्याकरण वे जानते थे। झगडा करते अपना निजी स्वार्थ न हो, मन मे अभिमान न हो, किसी की निन्दा करने मे दिलचस्पी न हो और जिस के साथ झगड़ा छिड़ जाय उसके बारे मे मन मे द्वेष न हो, उसका नुकसान करने की बुद्धि न हो और झगडा करने के पीछे सामाजिक कल्याण की ही भावना हो।

कुमारप्पा मे विनोद ठूस-ठूस कर भरा हुआ था, यह विनोद गाधीजी से बातें करते भी वे छोड़ नहीं सकते थे और गांधीजी भी उनको कुछ हद तक प्रोत्साहन ही देते थे।

श्री कुमारप्पा अविवाहित थे, ब्रह्मचारी थे, लेकिन ब्रह्मचर्य व्रत का बोझा सिर पर उठाकर वे नहीं घूमते थे। उनके लिए ब्रह्मचर्य बिलकुल सहज था, इसलिए स्त्रियो के साथ बातचीत करते या विनोद करते उन्हें

को आदर्श समाज का गांधीजी का चित्र जँच जाय तो उस ओर जाते लोगों को कठिनाई नहीं रहेगी।

रशिया और चीन दोनों देशों में सरकार का काबू लोगों पर अच्छा है। संकल्प सिद्ध करने का सामर्थ्य वहाँ की सरकारों में है और दोनों देशों में प्रजाहित के काम बड़े पैमाने पर अच्छी तरह से हुए हैं।

कुमारप्पा को रशिया और चीन देखने का मौका मिला। वहाँ के विकास का चित्र देख कर वह प्रभावित हुए। स्वदेश लौटने के बाद उन्होंने उसका वर्णन अपने लेखों में किया, जिसमें उन्होंने लिखा कि रशिया और चीन के साम्यवाद के सिद्धांत कैसे भी हों, वहाँ की राजनैतिक कार्यपद्धति हम बिलकुल नापसंद करते हैं, तो भी दोनों सरकारों ने अपनी-अपनी प्रजाओं के लिए जो कार्य किया है और उस में तरक्की पाई है उस से तो सबक सीखना ही चाहिए। जो काम हमारी सरकार को कब का करना चाहिए था, वह वहाँ हुआ देख कर कुमारप्पा ने अपने लोगों को जाग्रत करने के लिए वह लेखमाला लिखी।

गहराई में उतरकर सोचने की आदत जिन्हें नहीं है ऐसे लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि ये गांधीवादी लोग बिलकुल भोले होते हैं। आसानी से लोगों के फन्देमें आ जाते हैं। कई लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि कुमारप्पा कम्युनिस्ट हो गये हैं। लेकिन ऐसी टीका पर किसी का विश्वास कैसे बैठे? जो हो, कुमारप्पा की सेवा से लाभ उठाने का काम सरकार से नहीं हुआ।

गांधीजी जानते थे, स्वराज पाने के लिए देश को वे एकाग्र कर सके इसका लाभ देश के नेता लोग अवश्य उठाएँगे। लेकिन उनके सिद्धांत नेता लोगों के गले उतरे नहीं है। अपने सिद्धांतों को अच्छी तरह समझने वाले और अमलमें लाने वाले लोगों का आगे चलने वाला नहीं है। देश

को ग्रादर्श समाज का गांधीजी का चित्र जंच जाय तो उस ग्रोर जाते लोगों को कठिनाई नही रहेगी।

रशिया ग्रौर चीन दोनो देशों मे सरकार का काबू लोगों पर ग्रच्छा है। सकल्प सिद्ध करने का सामर्थ्य वहाँ की सरकारों मे है ग्रौर दोनो देशों मे प्रजाहित के काम बड़े पैमाने पर ग्रच्छी तरह से हुए हैं।

कुमारप्पा को रशिया ग्रौर चीन देखने का मौका मिला। वहाँ के विकास का चित्र देख कर वह प्रभावित हुए। स्वदेश लौटने के बाद उन्होने उसका वर्णन ग्रपने लेखो मे किया, जिसमे उन्होने लिखा कि रशिया ग्रौर चीन के साम्यवाद के सिद्धात कैसे भी हो, वहाँ की राजनतिक कार्यपद्धति हम बिलकुल नापसद करते हैं, तो भी दोनो सरकारो ने ग्रपनी-ग्रपनी प्रजाग्रों के लिए जो कार्य किया है ग्रौर उस मे तरक्की पाई है उस से तो सबक सीखना ही चाहिए। जो काम हमारी सरकार को कब का करना चाहिए था, वह वहाँ हुग्रा देख कर कुमारप्पा ने ग्रपने लोगो को जाग्रत करने के लिए वह लेखमाला लिखी।

गहराई में उतरकर सोचने की ग्रादत जिन्हें नहीं है ऐसे लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि ये गाधीवादी लोग बिलकुल भोले होते हैं। ग्रासानी से लोगों के फन्देमें ग्रा जाते हैं। कई लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि कुमारप्पा कम्युनिस्ट हो गये हैं। लेकिन ऐसी टीका पर किसी का विश्वास कैसे बैठे? जो हो, कुमारप्पा की सेवा से लाभ उठाने का काम सरकार से नही हुग्रा।

गांधीजी जानते थे, स्वराज पाने के लिए देश को वे एकाग्र कर सके इसका लाभ देश के नेता लोग ग्रवश्य उठाएँगे। लेकिन उनके सिद्धांत नेता लोगों के गले उतरे नहीं हैं। ग्रपने सिद्धांतो को ग्रच्छी तरह समझने वाले ग्रौर ग्रमलमें लाने वाले लोगों का ग्रागे चलने वाला नहीं है। देश

: २ :

कुमारप्पा भी चले गए

पूज्य गांधीजी से प्रेरणा पाकर जिन के साथ वर्षों तक काम किया और संस्थाएँ चलायी वे एक के पीछे एक चल दिये। जिन्हें सब लोग आश्रम का प्राण कहते थे वे मगनलाल गांधी तो गांधीजी के जीते जी चले गये। इसी तरह आश्रम को तन-मन-धन से मदद करने वाले श्री जमनालाल जी बजाज और गांधीजी की चैतन्यमयी छायास्वरूप श्री महादेव देसाई भी उनके जीते जी चले गये। उनके जाने का दारुण-दुःख गांधीजी को सहन करना पड़ा। लेकिन वे तो गांधी-वियोग के दुःख से बच गये। माताजी कस्तूरबा के बारे में भी हम आश्रमवासी यही कह सकते हैं कि वे अपने सौभाग्य-तिलक के साथ चली गयीं और उनके जाने के पश्चात् दुनिया उनकी अधिकाधिक भक्ति करने लगी।

मैं तो अपने साथियों का चिंतन कर रहा हूँ। श्री किशोरलाल मशरूवाला ने गांधी-कार्य चलाते-चलाते रोग-जर्जरित देह छोड़ दी। देह की सतत पीड़ा भुगतते रहते भी आत्मा कैसे अलिप्त रह सकती है और मनुष्य अपनी प्रसन्नता भी कैसे संभाल सकता है, इसका वे ज्वलंत उदाहरण थे।

उनके बाद चले गये मेरे निकटतम साथी श्री नरहरिभाई परीख। वे जैसे सेवामूर्ति थे वैसे नम्रता की भी मूर्ति थे। उन्होंने जहाँ तक शरीर और मन चल सका, पूरी-पूरी सेवा दी—संस्थाएँ चलाने में और बहुत कीमती साहित्य लिखने में भी।

जो किसी समय मेरे विद्यार्थी थे और जिन्होंने कम या अधिक मेरे कार्य में साथ दिया वैसे श्री चन्द्रशंकर शुक्ल और श्री गोपालराव कुलकर्णी दोनों का स्मरण इस क्षण हो रहा है। दोनों का कार्य भिन्न था। लेकिन दोनों ने अपने ढंग से साहित्य की और समाज की उत्तम सेवा की और शिक्षा के क्षेत्र में कीर्ति पायी। इनका जब स्मरण करता हूँ तब एडमण्ड बर्क का वचन याद आता है—"जो मेरे वंशज होने वाले थे वे मानो पूर्वज हो गये।"

और अब श्री जोसेफ कार्नेलियस कुमारप्पा भी चले गये। उनके छोटे भाई भारतन् कुमारप्पा मेरे ही आग्रह से दिल्ली आये थे और उन्होंने समग्र गांधी वाङ्मय के संपादन का काम सिर पर लिया था। श्री जे० सी० के प्रति असीम भ्रातृभक्ति होने के कारण ही वे गांधी-कार्य में सम्मिलित हुए थे। उनके नैष्ठिक जीवन के बारे में बहुत कम लोग जानते होंगे

निष्ठा के पालन में बिल्कुल प्रखर थे। लेकिन समझौते के बावजूद मेरी सिद्धातनिष्ठा अक्षुण्ण है इतना ही उनके लिए काफी था। इसलिए जब कभी मैंने उनसे कुछ करने के लिये कहा, बिना सकोच वे मान जाते थे।

गाधीजी के तत्त्वज्ञान का आर्थिक पहलू तो उन्होंने (और भारतन् ने भी) बड़ी योग्यता के साथ सँभाला था ही। लेकिन गांधीमत या गाधी-जीवननिष्ठा का धार्मिक पहलू कुमारप्पा-बन्धुओ को विशेष प्रभावित कर सका था।

ग्राम-पुनर्रचना की धुन उन्हे विनोबा भावे जैसी ही थी। लेकिन ग्राम-पुनर्रचना के आन्दोलन के बारे में दोनों मे दृष्टिभेद काफी था। उन्होंने वर्धा के पास एक गांव पसन्द किया था। जमीन भी खरीद ली थी। उस स्थान को एक तमिल नाम (पण्णै आश्रम) भी दिया था। वहाँ रहकर वे ग्रामोद्योग और ग्रामजीवन के पुनरुद्धार का और नवीनी-करण का प्रयोग करने वाले थे। लेकिन शरीर चल नही सका। इसलिए उन्होंने अपनी अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सेवा की सस्था सर्व सेवा सघ को दे दी और खुद निवृत्त हुए।

सस्था के भार से तो वे निवृत्त हुए और स्वास्थ्यलाभ की निवृत्ति ही उन्हें चलानी पड़ी। सिर्फ उनका दिमाग और उनका व्यक्तित्व अपना काम करता रहा। और मुझे विश्वास है कि शरीर छूटने पर भी उनका वह कार्य चलता ही रहेगा।

शरीर छोड़ने के लिये उन्होंने मुहूर्त भी अच्छा पसन्द किया। हम भूलेंगे नही कि उनका शरीर गांधीजी के बलिदान के दिन—३० जनवरी को ही छूटा। गाधीजी के बाद एक तप याने बारह वर्ष वे इहलोक मे रहे और उन्होंने गांधी विचार का प्रतिनिधित्व किया।

गांधीजी से प्रेरणा पाकर जिन्होंने उनके काम को अपना जीवन अर्पण किया ऐसे लोग एक के पीछे एक जा रहे हैं इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। सृष्टि का यह क्रम ही है।

एक दिन आयेगा जब गांधीजी का कार्य सफल बनाने का भार ऐसे लोगों के सिर पर आयेगा जिन्होंने न गांधीजी को देखा था न उनके साथियों को। क्योंकि गांधीजी का कार्य एक जमाने का नहीं किन्तु सदियों का है। वह काम सफल होकर ही रहेगा। हमारे ढंग से नहीं किन्तु अपने ही अद्वितीय और लोकोत्तर ढंग से।

: ३ :

डा० कुमारप्पा—मेरी जानकारी के

सन् १८५७ में ब्रिटिश गुलामी को उतार फेंक देने के संग्राम में सख्त पछाड़ खाने के बाद देश फिर से कुछ खड़ा होने जा रहा था तब उस समय के मनीषियोंने सारी परिस्थिति का हिसाब लगाकर देश को सुदृढ़ आर्थिक बुनियाद पर खड़ा करने के उपाय खोजने की कोशिश की। न्यायमूर्ति रानडे, आर० सी० दत्त, दादाभाई नवरोजी जैसे दूरदर्शी देशभक्तों के और हिन्द के उस मित्र—डिग्बी के लेख इस प्रकार के उत्कट प्रयत्नों के ऐतिहासिक प्रमाण हैं। हम भारतीय उन दिनों आदम स्मिथ के 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' के असर नीचे थे। ब्रिटिश उदारमतवादियों ने जो मुक्त व्यापार का सिद्धांत चलाया था उसके हम समर्थक थे। कुछ हिन्दी लिस्ट के राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की ओर आकर्षित हुए थे। परन्तु हमारी अपनी जड़ें नहीं थीं।

जब गांधीजी सुप्रसिद्ध गुरुकुल कांगड़ी, हरद्वार गये थे तब वहाँ के राष्ट्रीय अर्थशास्त्रियों ने गांधीजी से प्रार्थना की कि वे भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन में कोई नया मार्गदर्शन करें। गांधीजी तो हर एक वस्तु को वैज्ञानिक दृष्टि से देखते थे, इसलिये उन्होंने अर्थशास्त्रियों को सलाह दी कि वे पश्चिम की कोई एक या दूसरी शाखा के अंधे अनुयायी न बनें। अपने देश की परिस्थिति को, खासकर देहातों की, वे प्रत्यक्ष जाँच करें, उसका सर्वेक्षण करें और उसके आधार पर कुछ सिद्धान्त तय करके उनके आधार पर राष्ट्रीय पुनरुत्थान की योजनायें बनावें।

जब गांधीजी ने मुझे गुजरात विद्यापीठ का काम सौंपा और राष्ट्र की शिक्षा को अहिंसक असहकार-आन्दोलन के अनुकूल शकल देने और जोड़ने के लिए जब जब मैंने गांधीजी से उनकी दृष्टि की कल्पना या नीति-आधार मुझे देने की प्रार्थना की। मैंने स्वयं गांधीजी के आश्रम में आने के पहले दृष्टि के बारे में कुछ लेख लिखे थे, परन्तु उन में विचार ठीक तरह से नहीं रखे गये थे, क्योंकि जब वे गुजराती के रूप में प्रकट हुए तब उस विचार की व्याख्या किन ने भी गांधीजी ने छुआ की थी। उसका जब अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित हुआ तब आन्तरराष्ट्रीय ख्याति वाले सुप्रसिद्ध कवि लेखक रोमां रोलां ने उसकी कड़ी आलोचना की थी। मैंने रोमां रोलां को लिखा और अपना दृष्टिकोण समझाया। उन्होंने कबूल किया कि उनकी कड़ाई अनुचित थी और वे आवश्यक सुधार करेंगे। इतनी पश्चाद्-भूमिका के साथ मुझे तीव्रता से लगता था कि गांधी-आदर्श की सही मीमांसा हमारे पास होनी चाहिये। इसलिये जब कुमारप्पा विद्यापीठ में आये तब मैंने उनसे कहा कि गांधी जी ने जो बहुत पहले गुरुकुलवालों से कहा था उसका स्वीकार हमें करना चाहिये और गुजरात के किसी सघन क्षेत्र के सर्वेक्षण से प्रारम्भ करना चाहिये। सरदार वल्लभभाई ने मातर ताल्लुका का सर्वेक्षण सुझाया। मैं चाहता था कि सामाजिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से सर्वेक्षण हो। परन्तु वल्लभभाई ज्यादा व्यावहारिक थे। उन्होंने सुझाया कि जिस हेतु से यह सर्वेक्षण करना है उसे ध्यान में रखकर यही ज्यादा अच्छा होगा कि आर्थिक दृष्टि तक ही सर्वेक्षण को सीमित रखा जाय। मुझे पूरा संतोष तो नहीं हुआ, लेकिन यह मर्यादित सुझाव मैंने मान लिया, क्योंकि हमें यह काम कुमारप्पा जैसे व्यक्ति को सौंपना था जो विशाल दृष्टिवाले अर्थशास्त्री के तौर पर प्रसिद्ध थे।

कुमारप्पा ने पूरी-पूरी पश्चिमी तालीम पाई थी। साथ ही, वे पश्चिमी अर्थशास्त्र और हिसाब तथा हिसाब जाँचने की विद्या में भी काफी योग्यता

बनाने के लिये कहा। कुमारप्पा तो अब फकीर से बन गये थे। वे दिलोजान से इस आंदोलन में लग गये। उन्होंने कई लेख लिखे, पुस्तकें लिखीं। आज यह साहित्य सर्वोदय प्राप्त करने के लिये गांधी-अर्थशास्त्र का श्रेष्ठ, समर्थ विवेचक है।

एक बार मुझ से टालस्टाय की प्रसिद्ध पुस्तक "What shall we do then?" के अनुवाद के लिये प्रस्तावना लिखने को कहा गया। मैं टालस्टाय का इस विषय पर साहित्य पढ़ रहा था तो मुझे बार-बार कुमारप्पा की "Economy of Permanence" किताब याद आती थी। टालस्टाय कुमारप्पा की तरह पूरे ख्रिस्ती थे फिर भी साहित्यिक कलाकार थे और स्वप्नद्रष्टा थे। कुमारप्पा को वैज्ञानिक और व्यावहारिक तालीम मिली थी, साथ ही उनमें एक पूरी आध्यात्मिक प्रेरणा काम कर रही थी। इसलिये उन्होंने हिन्द में और बाकी की दुनिया में सर्वोदय कायम करने के लिये ज्यादा व्यावहारिक और ब्योरेवार योजना दी है।

कुमारप्पा जब विद्यार्थी थे तब योरप और अमेरिका में बड़े पूंजीवादी औद्योगिक साहसों के अर्थशास्त्र (economics of enterprise) का प्रत्यक्ष अध्ययन करने का मौका उन्हें मिला था। अब इन पक्के गांधीवादी प्रचारक को रूस, जर्मनी, बल्गेरिया, चीन और जापान जैसे देशों ने अपने यहाँ आकर दुनिया की हालत का अध्ययन करने का निमन्त्रण दिया। इन देशों का जो असर उनके दिल पर हुआ वह उन्होंने अपनी "A Peep Behind the Iron Curtain" किताब में बताया है। यह सचमुच अचरज की बात है कि कुछ लोग इस किताब को पढ़ कर एकदम निर्णय कर बैठते हैं कि वह सर्वोदय के अर्थशास्त्र का हिमायती साम्यवादी-तर्फी लेखक बन रहा है। लोग भूल जाते हैं कि जो अहिंसा से रंगा हुआ है वह साम्यवादी देशों के बारे में पूर्वग्रह धारण

कुमारप्पा जैसे जागरूक कार्यकर्ता के लिये वह बहुत भारी थकाने वाला साबित हुआ। यों भी राष्ट्र की सेवा में उन्होंने अपनी जात को निचो डाला था। उनकी शक्ति क्षीण हो गई। डॉक्टरों की आज्ञाकारी सलाह माननी पड़ी कि जिसमें भारी श्रम पहुँचे ऐसे संस्थाओं के प्रशासनिक कार्यों से वे निवृत्त हो जायं। परन्तु रचनात्मक प्रवृत्तियों के वातावरण में रहना तो उन्होंने जारी रखा ही और जो नौजवान उनके प्रभाव में आये उनको वे प्रेरणा देते रहे और उनका मार्गदर्शन करते रहे।

यद्यपि गांधीजी ने विनोद करते हुए कुमारप्पा को दो उपाधियाँ दी थीं तो भी वे उन्हें सही मानते थे। एक तो थी D. V. I. याने डॉक्टर आफ विलेज इन्डस्ट्रीज' और दूसरी थी D. D. जिसका अर्थ होता था 'डॉकटर आफ डिविनिटी' जो उन्होंने कुमारप्पा की किताब "Practice and Precepts of Jesus" पढ़ कर दी थी। कुमारप्पा ने अपनी किताब "Christianity, its economy and way of life" में ईसामसीह द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रकाश में पश्चिम की आर्थिक व्यवस्था की आलोचनात्मक ढंग से परीक्षा की है।

मुझे शक है, हमारे गांधी-परिवार में किसी ने नयी अर्थ-व्यवस्था के लिये गांधीजी के आदर्शों को 'कुमारप्पा से ज्यादा संपूर्णतया अपनाया हो। अब यह हमारा काम रहता है कि कुमारप्पा के सब लेखों को इकट्ठा किया जाय और उनका सारसंग्रह तैयार किया जाय ताकि गांधीजी के क्रान्तिकारी विचारों में कुमारप्पा ने अपनी ओर से जो दिया सम्पूर्ण योजनाबद्ध दिया जा सके। सार्वजनिक कार्यकर्ता और अभी गांधीजी के आदर्शों को पूरी तरह स्वीकारने के लिये हो हैं। परन्तु विश्व की घटनाएं मानव-समाज को नये-नये धक्के पर तुली हुई है और एक ओर मुक्त पूँजीवादी व्यापार (free

भारतरत्न भारतन

डॉ० भारतन कुमारप्पा का देहान्त बिल्कुल अचानक हुआ। अभी तो बम्बई में गांधी साहित्य के सम्पादन की सब बातें हम लोगों ने तय की थीं। सब काम भारतन की इच्छानुसार कराने का हम लोगों का निश्चय था। उनका स्थान उसी योग्यता से कोई ले ऐसा आदमी नहीं दीख पड़ता।

डॉ० भारतन के जाने से गांधी-कार्य को तो बड़ा नुकसान हुआ ही है, सारे देश ने भी एक उच्च चारित्र्यवान, ईश्वरनिष्ठ, विद्वान्, नम्र सेवक को खोया है।

कुमारप्पा-कुटुम्ब दक्षिण के, सुदूर दक्षिण के ईसाई परिवारों में से एक है। इस विशाल कुटुम्ब में इतने विद्वान् और संस्कारी व्यक्ति पैदा हुए हैं कि अगर उन्हें 'कुमारप्पा विश्वविद्यालय' चलाना होता तो बाहर से एक भी आदमी लाना नहीं पड़ता। ये लोग केरल के नहीं किन्तु तामिलनाड के हैं।

सब से पहले जे० सी० कुमारप्पा गांधीजी के पास आये। भारतन का जे० सी० के साथ वैसा ही सम्बन्ध था, जैसा लक्ष्मण का राम के साथ। जब गांधीजी ने ग्रामोद्योग का काम एक नई संस्था खोलकर जे० सी० को दे दिया तब उनकी मदद में डॉ० भारतन आये। और उसी जमाने में उन्होंने 'पूंजीवाद, समाजवाद और ग्रामोन्नतिवाद' नामक एक किताब लिखी। उससे उनकी शक्ति का परिचय होता है।

डॉ० भारतन की पढाई हिन्दुस्तान में, विलायत और अमेरिका में हुई। तत्त्वज्ञान और धर्मशास्त्र के वे पी-एच० डी० पंडित बने। रामानुज के विशिष्ट अद्वैतवादी वेदान्त पर एक विराट् निबन्ध लिख कर उन्होंने प्रतिष्ठा पाई और उस सारी विद्वत्ता का लाभ उन्होंने गांधी-कार्य को दिया।

अपने हाथों कोई भी अनुचित, अनार्य कर्म न हो इसकी जागरूकता भारतन में सदा से पाई जाती थी। उनका कहना था कि जो कुछ भी शुभ-संस्कार उन्होंने पाये, अपनी माता से पाये। स्वार्थ को भूलकर परार्थ के लिये कुछ-न-कुछ करते रहना यही उनका बचपन से आनन्द था। उन्होंने अध्यापन-कार्य भी बहुत किया था। स्वराज्य के आंदोलन में जब उन्हें जेल जाना पड़ा, वहाँ भी कई नवयुवकों को वे बाकायदा पढ़ाते थे। जेल के स्नेही-मंडल में हम भारतन को 'रतन' कहते थे, और सचमुच वे सज्जनता के एक रतन ही थे। माता के बाद उनपर सबसे अधिक असर था उनकी बड़ी बहन का।

भारतीय संस्कृति के पुराने मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास का अध्ययन भारतन ने अच्छी तरह से किया और अमेरिका जाकर उन्होंने एक व्याख्यानमाला भी शुरू की थी। लेकिन चापलूसी का स्वभाव नहीं होने से अमेरिका-भ्रमण का वह सारा कार्यक्रम उन्हें छोड़ देना पड़ा।

गांधीजी के कार्यकर्ताओं को यथाक्रम जगत् की रंगभूमि से ओझल होना ही है। किन्तु किसी ने भी नहीं माना था कि भारतन इतने जल्दी भारत को छोड़कर चले जायेंगे।

एक देव-पुरुष श्री ठक्कर बापा

"जे का रंजले गांजले,
त्यांसि म्हणे जो आपुले।
तोचि साधु ओळखावा,
देव तेथेंचि जाणावा॥"

संत तुकाराम की यह उक्ति अगर किसी के लिये पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है तो वह स्वर्गस्थ ठक्कर बापा के लिये। ठक्कर बापा के प्रयाण के कारण भारत ने एक अत्युत्तम सेवक खोया है। लेकिन उनके लिये शोक करना मुनासिब नहीं है। ठक्कर बापा ने अपनी ८२ वर्ष की परिपक्व उमर तक अपनी सर्व शक्ति दलितों की सेवा में वितरण की। उनके पास जो कुछ भी बुद्धि-शक्ति, हृदय-शक्ति, शरीर-शक्ति याने संपूर्ण सेवा की शक्ति थी वह सब की सब अनाथों की सेवा में उन्होंने व्यतीत की, कुछ भी बाकी रहने नहीं दिया। वर्षाकाल में अपना सारा पानी पृथ्वी को देने के बाद शरद् ऋतु में बादल जैसे हल्के होकर चले जाते हैं, उसी तरह अपनी सर्व शक्ति का सेवा में व्यय करके कृतार्थ हो कर ठक्कर बापा ने भगवान् के चरणों की ओर प्रयाण किया। इनकी मृत्यु पर हमें शोक के उद्‌गार नहीं निकालने चाहिये। धन्यता के ही उद्‌गार उनके लिये योग्य हैं।

श्री ठक्कर बापा कोई असाधारण शक्तिशाली पुरुष नहीं थे।

जागतिक भूमिका पर खड़े होकर इस सवाल का हल उन्होंने सुझाया नहीं। जिस तरह अमेरिकन लोग, जो कोई उन के देश मे आया उसे अमेरिकन बना देते हैं या जिस तरह मिशनरी लोग दुनिया-भर की सब जातियों को ईसाई धर्म की दीक्षा देने पर ही तुले हैं वैसा हल हमारे काम का नहीं है। 'आदिम जातियो को सनातनी समाज मे स्थान दिलवाया तो हमारा सब काम हो गया' ऐसी स्थिति नहीं है। आदिम जातियों की अपनी एक संस्कृति है। आजकल के जीवन-कलह में वह परास्त हुई है सही। लेकिन उसमें कायम रखने लायक अंश काफी है। जीवन-कलह में परास्त हो कर जो लोग जगलो में जा कर बसे और वहाँ के जीवन के साथ ओतप्रोत हो गये उनके उद्धार का प्रश्न आसान नही है। उन्हे हिन्दू समाज मे शरीक करते समय और स्वतन्त्र भारत के नागरिक की दीक्षा देते समय यह खास देखने की बात है कि हमारे पुराने दोषों की विरासत उन पर लादी न जाय।

श्री ठक्करबापा ने अपनी अनन्य सेवा द्वारा सारे राष्ट्र का ध्यान आदिम जाति के सवाल की ओर आकृष्ट किया ही है। श्री भगवानदास केलाजी और श्री अखिल विनयजी ने अभी-अभी इस विषय पर एक अच्छी किताब हिन्दी मे लिखी है। अब हमारा कर्तव्य होना है कि हम गंभीर विचारपूर्वक आगे की दिशा सोच लें और ठक्कर बापा का कार्य आगे चलायें। इतना तो हमें देखना ही चाहिये कि हमारा अध्ययन और हमारी उपाय-योजना मिशनरियो के प्रयत्न से कम या छिछली न हो।

ठक्करबापा की कार्यकुशलता का सबसे श्रेष्ठ पहलू यह था कि उन्हो-ने हर क्षेत्र के लिये अनन्य निष्ठावान कार्यकर्त्ता पैदा किये। जवानो को अपने कार्य में खींचकर अपने कडक शासन से उन्हें सेवा की तालीम देना और अपने पुत्रवत् प्रेम से उन्हे कृतार्थ करना यह ठक्कर बापा का ही काम था। भिल्ल सेवा मडल के श्री वणीकर, कर्णाटक से जाकर आसाम मे [illegible] वाले श्री भण्डारी, बम्बई की अपनी तिजारत

आगे जाकर ओरिसा, आसाम, मध्यप्रांत आदि अनेक क्षेत्रों में उन्होंने बढ़ाया। हरिजन सेवक संघ के तो वे प्रधान मंत्री थे ही। उनके कार्य की अनुकूलता के लिये श्री घनश्यामदास बिड़लाजी ने दिल्ली में एक विशाल संस्था की स्थापना की।

जहां कानून और विधान के जरिये हो सकता है, स्वराज्य सरकार ने अस्पृश्यता को पूरी तरह से दफना दिया है। अब अस्पृश्यता-निवारण की दो बाजुएँ बाकी रही हैं। अस्पृश्यों की माली हालत सुधारने का और अच्छी-से-अच्छी तालीम देकर उन्हें राष्ट्रीय जीवन में अपना हिस्सा लेने योग्य बनाना। यह एक ही पहलू ठक्कर बापा ने अपने हाथ में लिया था।

दूसरा पहलू है सवर्णों के बीच आंदोलन चला कर उनका हृदय-परिवर्तन कराने का। यह काम जैसा श्री जमनालालजी आदि सुधारकों ने किया वैसा काम ठक्कर बापा ने अपने हाथ में नहीं लिया था। इसकी ओर अब राष्ट्र का ध्यान खिंच जाना चाहिये। नहीं तो सनातन समाज [illegible] मसला ही रहेगा। श्री अप्पासाहेब पटवर्धन जैसे किसी सत्पुरुष का यह काम है।

जागतिक भूमिका पर खड़े होकर इस सवाल का हल उन्होंने सुझाया नही। जिस तरह अमेरिकन लोग, जो कोई उन के देश मे आया उसे अमेरिकन बना देते है या जिस तरह मिशनरी लोग दुनिया-भर की सब जातियों को ईसाई धर्म की दीक्षा देने पर ही तुले हैं वैसा हल हमारे काम का नही है। 'आदिम जातियो को सनातनी समाज में स्थान दिलवाया तो हमारा सब काम हो गया' ऐसी स्थिति नही है। आदिम जातियो की अपनी एक सस्कृति है। आजकल के जीवन-कलह में वह परास्त हुई है सही। लेकिन उसमे कायम रखने लायक अश काफी है। जीवन-कलह मे परास्त हो कर जो लोग जगलो मे जा कर बसे और वहाँ के जीवन के साथ ओतप्रोत हो गये उनके उद्धार का प्रश्न आसान नही है। उन्हें हिन्दू समाज मे शरीक करते समय और स्वतन्त्र भारत के नागरिक की दीक्षा देते समय यह खास देखने की बात है कि हमारे पुराने दोषो की विरासत उन पर लादी न जाय।

श्री ठक्करबापा ने अपनी अनन्य सेवा द्वारा सारे राष्ट्र का ध्यान आदिम जाति के सवाल की ओर आकृष्ट किया ही है। श्री भगवानदास केनाजी और श्री अखिल विनयजी ने अभी-अभी इस विषय पर एक अच्छी किताब हिन्दी मे लिखी है। अब हमारा कर्तव्य होता है कि हम गंभीर विचारपूर्वक आगे की दिशा सोच लें और ठक्कर बापा का कार्य आगे चलायें। इतना तो हमें देखना ही चाहिये कि हमारा अध्ययन और हमारी उपाय-योजना मिशनरियों के प्रयत्न से कम या छिछली न हो।

ठक्करबापा की कार्यकुशलता का सबसे श्रेष्ठ पहलू यह था कि उन्होंने हर क्षेत्र के लिये अनन्य निष्ठावान कार्यकर्त्ता पैदा किये। जवानों को अपने कार्य में खीचकर अपने कड़क शासन से उन्हें सेवा की तालीम देना और अपने पुत्रवत् प्रेम से उन्हे कृतार्थ करना यह ठक्कर बापा का ही काम था। भिल्ल सेवा मंडल के श्री वणीकर, कर्णाटक से आकर आसाम में काम करने वाले श्री भण्डारी, बम्बई की अपनी तिजारत

छोड़ कर दलितों की सेवा की दीक्षा लेने वाले श्री लक्ष्मीदास श्रीकांत, ठक्कर बापा का ऑफिस पूरी योग्यता से चलाने वाले श्री श्यामलालजी आदि अनेक कार्यकर्ता इस बात की गवाही देंगे कि ठक्कर बापा काम लेने में लश्करी-सेनापति के जैसे और प्रेम करने में पिता के जैसे थे। ऐसे लोगों ने ही ठक्कर बापा को 'बापा' की उपाधि दी थी। गांधीजी ने उन्हें 'हरिजनों के पुरोहित' कहा था। 'भारत-सेवक' तो वे थे ही।

स्वतन्त्र भारत के लिये ठक्कर बापा के जैसे सैकड़ों सेवकों की आवश्यकता है।

फरवरी १९५१

कर्मयोगी जाजूजी

जब से हमने श्री जाजूजी का दर्शन किया, राष्ट्र सेवा के विविध कार्यों मे लगे हुए उनको पाया है। औरों के मुख मे हमने सुना कि वे वकालत भी करते थे और अच्छा कमाते भी थे। पर वह सब छोड कर उन्होंने शिक्षा की ओर अपना सारा ध्यान लगाया। वर्धा के मारवाडी विद्यालय (अब कॉमर्स कॉलिज) की भव्य इमारत जाजूजी की योजना-शक्ति और लगन का स्वाभाविक स्मारक है।

लेकिन जाजूजी की योजना-शक्ति, कार्य-कुशलता और तपस्या पूर्ण रूप से पायी गयी उनके खादी-कार्य मे। इस खादी-कार्य का महत्त्व आज के लोग पूरे तौर से नहीं समझ सकेंगे। अब जब स्वराज्य हो चुका है और भारत सरकारने ग्रामोद्योग द्वारा बेकारी नष्ट करने का बीड़ा उठाया है तब देश मे अंबर चरखा भी चलेगा और लाखों करोडों गज खादी भी पैदा होगी। लेकिन जब खादी का महत्त्व लोग जानते नहीं थे, खादी के अर्थशास्त्र का श्री गणेश भी नहीं हुआ था, ऐसे प्रतिकूल दिनो मे निजाम राज्य जैसे पिछडे और प्रतिकूल प्रदेश में जा कर खादी की नीव डालना और खादी पर श्रद्धा न रखने वाले महाराष्ट्र को खादी के उत्पादन मे प्रथम स्थान दे देना जाजूजी का ही काम था। इस खादी-कार्य का जब हम ख्याल करते हैं तब पंडित जगन्नाथ की एक अन्योक्ति याद आती है। प्रखर ग्रीष्मकाल में जब सब वनस्पति सूख जाती थी तब दयार्द्र होकर माली ने दूर-दूर से पानी के घडे ला लाकर पौधे को बचाया और उसको बड़ा किया। उसके प्रति जो कृतज्ञता मन मे रहती है वह बारिश के दिनों में

सारी भूमिपर हर जगह पानी की वर्षा करने वाले मेघ के प्रति नहीं होती।

ईमानदारी, तत्वनिष्ठा और लोक-सेवा के साथ व्यवहार-कुशलता का मेल बिठाने में जैसे जमनालालजी कुशल थे वैसी ही कुशलता बहुत हदतक जाजूजी में भी पायी जाती थी। वर्धा की करीब-करीब सब संस्थाओं के साथ इनका घनिष्ठ संबंध था। जब स्वराज्य के दिन आये और मंत्रिमंडलों की रचना होने लगी तब वित्तमंत्री के स्थान पर जाजूजी की नियुक्ति हो ऐसी सूचना भी हुई थी। विषम परिस्थिति में इन्हें मुख्य मंत्री बनाने का भी सोचा गया था। लेकिन जाजूजी ने गांधीजी को नाराज करके भी ऐसी सूचना को स्वीकार नहीं किया।

स्वराज्य प्राप्ति के लिये रचनात्मक कार्य में लगे हुए लोग अकसर कौटुम्बिक जीवन में कुछ उदास से रहते हैं। जाजूजी का भी ऐसा ही था। वे अपने प्रति इतनी कठोरता बरतते थे कि उन्हें सारा समय राष्ट्रकार्य में देते हुए भी संतोष नहीं होता था।

आयु की उत्तरावस्था में उन्होंने भूमिदान और संपत्तिदान का कार्य उठाया और जिस तरह श्री विनोबा जी या शंकरराव देव देश में घूमने लगे वैसा कार्यक्रम जाजूजी ने भी अपने लिये चलाया। सामान्य तौर के पुरुषार्थ के पाँच तप याने साठ वर्ष माने जाते हैं। जाजूजी र्य में छठा तप पूरा किया (तप बारह वर्ष) और तब भी विराम किया। युद्धमान वीर की तरह अपने कार्यक्षेत्र में ही उन्होंने नी देह छोड़ी।

ऐसे कर्मयोगी के मरण के कारण दुःख होना स्वाभाविक है। लेकिन उनके प्रति हम शोक के द्वारा आदर नहीं बता सकते हैं। ऐसी मृत्यु की तो हर एक को इर्ष्या ही करनी चाहिये और भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये कि इस देश में ऐसे कर्मयोगियों की परम्परा अक्षुण्ण रहे।

नवम्बर, १९५५

श्री नरहरिभाई परीख

समानाः स्वर्याताः !

नरहरि परीख महादेवभाई के घनिष्ट मित्र थे। नरहरिभाई गांधीजी के आश्रम में आये यह भी एक कारण था कि महादेवभाई ने सब छोड़ कर अपनी सेवा गांधीजी को अर्पण की। आश्रम में आने के बाद दोनों की मैत्री प्रगाढ़ बनी। लेकिन साहित्यिक सहयोग टूट गया। नरहरिभाई ने महादेवभाई के जीवन का पूर्वार्ध, किशोरलालभाई का चरित्र और सरदार वल्लभभाई की जीवनी ऐसे तीन चरित्र-ग्रन्थ लिखे हैं। वर्तमान अर्थशास्त्र की अनर्थकारिता बतानेवाला एक बृहद्ग्रन्थ—'मानव अर्थ-शास्त्र' स्वयं नरहरिभाई का उत्तम स्मारक है।

गांधीजी का सविस्तर जीवन-चरित्र लिखने के लिये महादेवभाई ने जो नित्यनोंध लिख रखी थी, उन डायरियों का सम्पादन करना नरहरिभाई का ही काम था। उनके सिवाय दूसरा कोई यह काम नहीं कर सकता। सत्याग्रहाश्रम का विद्यामन्दिर और गुजरात विद्यापीठ ये दोनों राष्ट्रीय संस्थायें चलाने में नरहरिभाई का और मेरा अधिक-से-अधिक सहयोग रहा। विद्यापीठ का सारा तन्त्र मैं उन्हीं के हाथ में सौंप कर निश्चिन्त हो गया था।

आश्रम में हो या विद्यापीठ में, राष्ट्रीय शिक्षा का काम चलाते हम लोग ग्राम-सेवा और ग्राम-शिक्षा का ही रटन चलाते थे। आखिरकार

से पेश की कि ब्रूमफील्ड और मॅक्सवेल दोनों उससे बड़े ही प्रभावित हुए और किसानों के आय-व्यय का हिसाब तय करने में नरहरिभाई-पद्धति सरकार ने मंजूर रखी और उसे 'पर्गेस युनिट' का नाम दिया। कदम-कदम पर वे नरहरिभाई की सलाह लेने लगे और किसानों के सत्याग्रह का पूरा-पूरा फल उन के पल्ले पड़ा। जिन लोगों के खिलाफ किसी समय नरहरिभाई को अनशन करना पड़ा था उन्हीं की चिरकृतज्ञता नरहरिभाई को मिली और बारडोली में उनकी लोकप्रियता सबसे अधिक हुई। उसी बारडोली में उन्होंने अपनी जीवन-यात्रा पूरी की।

निष्ठापूर्वक एक ही काम चलाते नरहरिभाई को अनेक बार स्थानांतर करना पड़ा। उसकी चर्चा करते उन की सहधर्मचारिणी मणिबेन ने एक दफे मुझ से कहा, 'स्थानांतर करते आप लोगों को तो कुछ कष्ट नहीं है। एक स्थान से उठे और दूसरे स्थान पर बैठ गये। मुसीबत होती है हम स्त्रियों को। एक स्थान का सारा विस्तार समेट लेना और दूसरे स्थान पर खड़ा कर देना यह आसान बात नहीं है। लेकिन अब मैंने निश्चय कर लिया है कि कहीं भी एक दो साल से ज्यादा रहने की अपेक्षा ही नहीं करनी। पहले से मान लेना कि हम परिव्राजक-धर्मी हैं। स्थानांतर करना न पड़ा तो आश्चर्य !' मणिबहन ने सारी जिन्दगी नरहरिभाई को ऐसी प्रसन्नता से साथ दिया कि नरहरिभाई कई बार कहते थे कि 'मणि' है इसलिए मेरा चलता है। उन का ऐसा भी कहना था कि युवावस्था में जब वे जल्दबाजी से कुछ काम करते थे तब मणिबहन ही अपनी दीर्घ-दृष्टि से और शुभ आशय से उन्हें संभाल लेती थीं। मैंने विनोद में नरहरिभाई से कहा, तब तो मणिबहन को उत्तम काव्य कहना चाहिये। 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' जिन्होंने अपना कार्य किया उनको काव्य की ही उपमा देनी चाहिये।

नरहरिभाई ने गांधी-युग के अनेक कार्य किये और सब प्रसन्नता से किये। यह प्रसन्नता उनके लड़के-लड़की में भी उतर आई है।

सेवाकार्य के अंतिम दिनों में नरहरिभाई को व्याधि ने घेर लिया और उनका जीवन कष्टमय हुआ। तो भी जब तक शरीर और मन चला, सेवा करते ही रहे। हमारे ऋषियों ने बीमारी को भी तपस्या कहा है। दीर्घ तपस्या के अंत में भगवान् ने उन्हें अपने पास बुलाया और उनके पीछे उनके पुण्यजीवन की सुगन्ध ही रहने दी। समाज का धर्म है कि उनकी पुण्यस्मृति को अपनी कीमती विरासत समझकर उसे कायम रखे।

२३-७-५७

बुनियादी शिक्षा के आचार्य आर्यनायकम्‌जी

हमारे अनेक साल के साथी, श्री आर्यनायकम् के विदेह होने पर, उनका पुण्य स्मरण करने के लिये हम आज इकट्ठा हुए हैं। मृत्यु के समय उनकी उम्र ७६ साल की थी। ऋषिमुनि कहते हैं शतायुर्वै पुरुषः। मनुष्य को सौ बरस की आयु दी है। ईशोपनिषद् भी कहता है कि 'कर्म करते करते सौ बरस जीने की कामना करनी चाहिये।' लेकिन चंद लोग इससे ज्यादा जीते हैं तब कोई कहते हैं 'सौ के माने है १०३ या १०८। उपनिषदों ने ११६ का हिसाब लगाया है। गांधीजी कहते थे '१०० माने १२५'। इस हिसाब से श्री आर्यनायकम् की मृत्यु अकालमृत्यु ही कहनी चाहिये। लेकिन भारत में बहुत कम लोग इतना भी जीते हैं। जो अधिक जीते है उनको कम उम्र में जाने वालों को श्रद्धांजलि अर्पण करनी पड़ती है तब उसका दुःख होता है सही।

जब आर्यनायकम्‌जी गांधीजी के पास आये तब उनकी योग्यता देखकर गांधीजी ने उन्हें राष्ट्रीय शिक्षा का काम सौंपा। और सारे देश के लिये बुनियादी तालीम का कार्यक्रम गांधीजी ने दिया, तब उसका भार डॉ० जाकिर हुसैन और आर्यनायकम्‌जी के सिर पर रखा। वह काम उन्होंने अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में, पूरी निष्ठा से चलाया।

आर्यनायकम्‌जी के जीवन में अनेक प्रकार का समन्वय पाया जाता है। भारत के जो तमिल लोग लंका जाकर रहे थे वहाँ के सिंहली लोगों के साथ अच्छी तरह से घुलमिल जाकर सिलोनी बन गये। यह था

पहला समन्वय। (गोरे लोगों ने अपने स्वभाव के अनुसार इन लोगों में फूट डालना शुरू किया और राजनैतिक चुनाव ने फूट को बढ़ाया यह दुर्दैव की बात है।)

आर्यनायकम्‌जी में दूसरा समन्वय है धर्म का। उनके हिंदू खानदान ने ईसाई धर्म का स्वीकार करके धर्म-समन्वय को बढ़ावा दिया। बाद में जब उन्होंने पश्चिमी विद्या ग्रहण की और पश्चिमी संस्कृति का परिचय पाया तब उन में पूर्व-पश्चिम का समन्वय हुआ।

हमारे जमाने के देशभक्त युवकों को आजादी की लगन लगना स्वाभाविक था। एक बात आर्यनायकम्‌जी को जँच गयी कि सिलोन की आजादी के लिये भारत की स्वतन्त्रता ही प्रभावशाली हो सकती है। इस श्रद्धा के साथ वे विश्व-समन्वय-मूर्ति रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पास गये और शान्तिनिकेतन में बंगाली सीखकर शिक्षा का कार्य करने लगे। भाग्यशाली ईसाई विलियम्स को वहाँ और एक समन्वय करने का मौका मिल गया। बंगाली ब्राह्मण परिवार की आशादेवी के साथ उनका विवाह होने पर उनके जीवन में नया धर्म-समन्वय हुआ, जिसका लाभ उनके बच्चों को मिला।

कवीन्द्र के साथ उनके निजी सचिव बनकर उन्होंने पश्चिम की यात्रा की। उसका प्रभाव भी समन्वयकारी ही हुआ।

ईश्वर की प्रेरणा से आशादेवी—आर्यनायकम् दोनों गांधीजी के पास आये। मैंने देखा कि उनमें और मुझ में बड़ा साम्य यह है कि हम गुरुदेव और और महात्मा गांधी के बीच जो बड़ा भेद है उसे अच्छी तरह से समझते हुए हमारे मन में दोनों का अभेद ही पूर्ण रूप से बसा हुआ है। (मैं भी [illegible] से रवीन्द्र के पास गया था और उनके शान्तिनिकेतन में काम करते समय ही गांधीजी का मैं दर्शन कर सका था।)

मगनभाई देसाई

और एक साथी

यह सारी सृष्टि ही मर्त्यलोक है। सबको मरना ही है। ऐसी स्थिति में खास मृत्युनोंध लिखने का रिवाज एक पक्षपात के जैसा हो जाता है।

मेरी एक दूसरी कठिनाई है। श्रुति भले कहे कि सौ बरस जीने की इच्छा रखनी चाहिये। (जिजीविषेत् शतं समाः।) मनु भगवान् ने भले ही कहा हो कि 'न अपनी मृत्यु का हम अभिनंदन करें न जीवित का अभिनंदन करें। निष्ठावान नौकर जिस तरह हुक्म की राह देखता है उसी तरह काल की प्रतीक्षा करनी चाहिये।' तो भी जब मैं देखता हूँ कि मेरे अत्यन्त नजदीक के निष्ठावान और उत्तम सेवा करने वाले साथी मेरे पहले चले जाते हैं तब उनके पीछे मैं जिन्दा रहा हूँ यह कोई गुनाह कर रहा हूँ ऐसी भावना मेरे मन में उठती है और मानने लगता हूँ कि अपना यहाँ का समय कब का पूरा हो चुका है तब भी जी रहा हूँ। ऐसी मनस्थिति में अपने पुराने साथी के बारे में लिखते मन अस्वस्थ होता है। लिखने की इच्छा होते हुए भी कलम नहीं चलती। और दुनिया ने मृत्युलेख लिखने का ढंग ही इस तरह निश्चित कर डाला है कि यह एक रस्म अदा करने की बात होती है। लोग दिवंगत आत्मा का स्मरण करने की जगह लेख कैसे लिखा है यही देखने बैठते हैं। मेरे बचपन से ऐसे ही लेख पढ़ता आया हूँ। इस लिये मृत्युलेख लिखने का उत्साह ही नहीं रहता।

अभी अभी आश्रम और विद्यापीठ के मेरे पुराने साथी श्री मगनभाई देसाई का देहान्त हो गया। समाचार सुनते ही मैंने रात की अपनी प्रार्थना के समय उनका स्मरण किया, उन्हें श्रद्धांजलि अर्पण की और शांत हो गया। लेकिन जब चन्द स्थानिक कार्यकर्ताओं ने उनकी सभा में मुझे बोलने को कहा तब मौन धारण करना भी कठिन हो गया। फिर वहाँ जो कहा वही पाठकों के सामने रखना स्वाभाविक हो गया। इस लिए नीचे की पंक्तियाँ लिखवा रहा हूँ।

श्री मगनभाई ने मुझे अपना पहला परिचय दिया अपनी विशिष्ट शैली से। उन्होंने एक कागज मेरे हाथ में दिया। उसमें इस आशय का लिखा था—

"मैं आश्रम में दाखिल होना चाहता हूँ। आश्रम की शाला में काम करने की इच्छा है। अगर आपकी राय हो कि आश्रम में दाखिल होने के लिये जरूरी योग्यता मुझ में नहीं है तो कृपया मुझे बताइये मुझे कौन-कौन सी योग्यता हासिल करनी चाहिये। मैं बाकायदा प्रयत्न करूँगा और फिर से आपके पास आऊँगा।"

मैंने कहा, "गांधीजी ने मुझे जब बुलाया तब मुझे कहा नहीं था कि मुझ में कौनसी योग्यता होनी चाहिये। 'सेवा करनी है। आश्रम इसके लिये अनुकूल स्थान है। गांधीजी से बहुत कुछ मिल सकेगा और अपने हाथों कुछ न कुछ सेवा होगी ही' ऐसे विश्वास से मैंने गांधीजी का आमन्त्रण मान्य किया।"

मैंने अपनी दूसरी बातें भी कहीं जो यहाँ कहना आवश्यक नहीं है। मैंने मगनभाई का स्वागत किया और वे मेरे साथी बन गये। हम दोनों में अच्छा सद्भाव था और मैंने देखा कि सार्वजनिक संस्था में काम करने का व्याकरण वे अच्छी तरह से जानते थे। किन्तु थोड़े ही दिनों में मेरा अनुभव हुआ कि वे जो कुछ कहते हैं, मैं पूरा-पूरा समझ नहीं पाता हूँ। विचार करने का उनका तरीका मैं ठीक तरह से समझ नहीं सकता।

एक दिन महात्माजी के साथ मैं अमजगत की एक अमेरिकन लेखी, हैलन केलर के बारे में बातचीत कर रहा था तब गांधीजी ने कहा "मैंने उसका जीवनचरित्र पढ़ा है। गुजराती में वह आना चाहिए। मैंने यह काम मगनभाई को सौंपा। तुरन्त उन्होंने मुझे साहित्य तैयार करके सौंप दिया।

मैं जानता था कि मगनभाई वेदान्त के उपासक हैं। परिणीत होते हुए भी ब्रह्मचर्य के उपासक हैं। अध्यात्मविद्या का उनका गहरा अध्ययन है। इसी लिये इस विषय पर भी हमारी अनेक बार चर्चा होती थी अथवा कोई नया विचार सूझा तो स्वयं आकर अपनी बात विस्तार से मुझे समझाते थे। उनके स्वभाव में चर्चा और विवेचन का माद्दा काफी था तो भी अनेक लोगों का प्रेम और निष्ठा हासिल करने की उनमें शक्ति भी थी। स्वराज्य के आन्दोलन में आश्रम और विद्यापीठ का जब सम्बन्ध हुआ तब मगनभाई ने अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्ति चलायी। गुजरात की स्वराज्य सरकार ने जब गुजरात युनिवर्सिटी की स्थापना की तब वहाँ मगनभाई ने कुलपति का काम किया। भिन्नमत के लोगों के संग से काम लेते उनकी अच्छी कसौटी हुई। उनका अनुभव भी बढ़ा।

अभी अभी उन्होंने 'सत्याग्रह' नाम का एक साप्ताहिक शुरू किया था। उसमें अपनी स्वतन्त्र वृत्ति और निडर नीति का उन्होंने अच्छा परिचय दिया था।

इस नैष्ठिक ब्रह्मचारी का स्वास्थ्य था तो अच्छा। वर्षों के संयम से। पता नहीं इसको अचानक दिल का दौरा कैसे हुआ? कर्मयोग युग का जीवन ही ऐसा कठिन है कि पता नहीं चलता कि कार्यक्रम, प्रवास, रहन-सहन और सामाजिक वातावरण आदि का शरीर-व्यापार पर कब और कितना असर होता है।

गांधीजी से सीधी प्रेरणा पाकर समाज की विविध सेवा करने वाले निष्ठावान सेवकों की संख्या घटती जा रही है यह तो प्रकृति के नियम के अनुसार ही हो रहा है। गांधीजी की अध्यात्मनिष्ठा और कार्यपरम्परा चलाने वाले नये नये लोग तैयार होने चाहिये जो भूतकाल के प्रति आदर रखते हुए वर्तमानकाल को अच्छी तरह से पहचानें और अपनी सारी निष्ठा भविष्यकाल के निर्माण में लगा दें।

१५ फरवरी १९६९

समन्वयवादी डॉ० जाकिर हुसैन

: १ :

हमारे नये राष्ट्रपति

आसाम से एक पत्र आया है, जिसमें लिखा है कि "डॉ० जाकिर साहब के चुनाव से हमें अत्यंत खुशी हुई है। जब चुनाव के सर्वसम्मति होने की संभावना टूट गयी तब हमारे मन मे डर रहा कि चुनाव का पल्ला किस ओर झुकेगा ? जब हमने देखा कि बाकायदा चुनाव में जाकिर साहब जीत गये तब हमें खुशी तो हुई ही, साथ-साथ विश्वास भी हो गया कि भारत की राष्ट्रीयता जैसी हम चाहते हैं वैसी ही है।"

इतना सब लिखने के बाद पत्रलेखक पूछते हैं कि इस चुनाव के बारे में 'मंगल प्रभात' मे क्यो कुछ न आया ? क्या इस चुनाव के दिनों मे कोई अनिष्ट बातें हुई थीं जिसके कारण आपको मौन धारण करना इष्ट लगा ?

पत्र-लेखक को मैंने अपनी ओर से लिखा ही है कि मुझे भी पूरी-पूरी खुशी हो गयी थी, इतना ही नहीं चुनाव के बाद जब अपना पदग्रहण करने के पहले राष्ट्रपति गांधी समाधि पर फूल चढ़ाने के लिये आये तब मैं स्वयं उनका अभिनंदन करने गया था। इतना ही नहीं हम लोगो ने

डॉ० साहब के सम्मान में गांधी समाधि के पास प्रार्थना भी की, जिससे गांधीजी के आशीर्वाद बाकायदा जाहिर हो सकें।

डॉ० जाकिर साहब उस पद के लिये सब तरह से योग्य हैं ही और अपनी दीर्घ और उज्ज्वल राष्ट्र-सेवा के कारण उन्होंने सारे देश का, देश की समस्त जनता का प्रेम और विश्वास संपादन किया है।

मेरे जैसे के लिए खुशी की और भी एक बात थी। मैं एक आजन्म अध्यापक हूँ, शिक्षा का कार्य ही करता आया हूँ। मेरे मन में अपनी जमात के लिए अभिमान और आदर भी है। जब डॉ० राधाकृष्णन् राष्ट्रपति चुने गये तब मैंने ग्रीक फिलसूफ अफलातून (प्लेटो) के वचन का जिक्र किया था कि 'जब तत्त्वज्ञानी राजगद्दी पर आते हैं अथवा राजगद्दी पर बैठे राजा लोग सच्चे तत्त्वज्ञानी होते हैं, तब वह आदर्श स्थिति होती है, प्रजा सुखी होती है और राष्ट्र का कल्याण होता है।'

अब दुनिया में राजा लोग नहीं रहे। राजा लोग केवल अपनी सत्ता से अथवा वंशपरंपरा के अधिकार से गद्दी पर आते हैं। राष्ट्रपति का ऐसा नहीं है। राष्ट्रपति दीर्घकालीन उज्ज्वल सेवा के द्वारा अपनी योग्यता सिद्ध करते हैं। और वह स्थान उन्हें प्रजा के प्रेम और विश्वास से ही [illegible] है। इसलिए चाहे सो आदमी राष्ट्रपति नहीं बन सकता। (एक [illegible]रकन कवयित्री ने यहाँ तक लिख डाला है कि राजा की गद्दी पर [illegible]धू भी बैठ सकता है। प्रजाराज्य में राष्ट्रपति ऐसा होने का कभी [illegible] रहता।) डा० राधाकृष्णन् के बाद भारत में दूसरे एक [illegible]ग्य शिक्षा-शास्त्री को देश ने पसन्द किया, यह हमारी [illegible]ति के लिए शुभ लक्षण है।

[illegible]ष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन ने प्रारम्भ भी कितना अच्छा किया! [illegible]माधि पर फूल चढ़ाने के बाद उन्होंने जगद्गुरु शंकराचार्य की

मुलाकात की और उनका भी आशीर्वाद ले लिया। इतना ही नहीं जैनियों के एक उदारमतवादी और सर्वधर्म-समन्वय में मानने वाले मुनि के पास भी गये। मुनि सुशील कुमारजी ने भी डा० जाकिर साहब का अभिनन्दन किया।

डा० जाकिर साहब ने शुरू से ही गांधीजी का नेतृत्व मान्य किया था। और जब राष्ट्र में 'शोषणरहित समाज' की स्थापना करने का गांधीजी ने सोचा और उसके लिए शिक्षा-प्रणाली में आमूलाग्र परिवर्तन करने की योजना राष्ट्र के सामने रखी तब उसे कार्यान्वित करने का भार गांधीजी ने पूरे विश्वास के साथ डा० साहब के सिर पर ही डाल दिया। तब से हम लोग एक-दूसरे के साथी बनकर काम करते आये हैं। मुझे डा० साहब का नजदीक से परिचय हो गया। उनका शुद्ध चारित्र्य, प्रजा-हित की सतत कामना, पक्षपातरहित राष्ट्रीयता आदि उनके अनेक सद्-गुणों का मैं साक्षी हूँ।

अब जब सारे राष्ट्र ने जाकिर साहब को राष्ट्रपति के स्थान पर नियुक्त किया है और हम उनके पुराने साथी हैं तब उनके बारे में कुछ भी लिखना मुझे आवश्यक नहीं लगा। जब पत्र-लेखक स्नेही ने एक सूक्ष्म-सी शंका प्रकट की तब उसका निराकरण करना जरूरी हो गया।

और जाकिर साहब के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने का एक मौका मिला इससे मुझे खुशी भी हुई। सारी दुनिया के लिए आजकल के दिन बड़े कसौटी के हैं। ऐसे समय पर राष्ट्रपति के पद पर एक ऐसे सुयोग्य व्यक्ति हमें मिले हैं, जिनपर गांधीजी का पूरा विश्वास था। और मैं तो कह सकता हूँ कि गांधीजी का उनके प्रति उत्कट प्रेम भी था। उनके कार्यकाल के दिनों में डा० जाकिर साहिब के हाथों राष्ट्र की और मानवता की उत्तम सेवा होती रहे यही हमारी प्रार्थना है।

उनका कार्यकाल पूरा होने पर उनका स्थान लिया डॉ० जाकिर हुसैन ने। वे तो उच्च कोटि के विद्वान् और शिक्षाशास्त्री थे। मैं तो यही कहूँगा कि इनका सम्पूर्ण जीवन गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम का गौरव है।

स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दोलन में शुरू से राष्ट्र-हित-चिंतकों का ध्यान राष्ट्रीय शिक्षा की ओर गया था। फलस्वरूप अंग्रेज सरकार की शिक्षा के प्रति असंतोष व्यक्त करनेवाली और राष्ट्रीय संस्कृति को पोषण देनेवाली अनेक संस्थाएँ देश में खड़ी की गयीं। असहयोग के
[illegible] में जो खास संस्थाएँ इस तरह स्थापित हुईं उनमें डॉक्टर साहेब
[illegible] मिया मिलिया इस्लामिया' का स्थान है। महात्माजी की
[illegible] त के साथ एकरूप बने हुए राष्ट्रपुरुषों में जाकिर साहेब का स्थान था।

जब स्वराज्य नजदीक आया और राष्ट्रीय शिक्षा को राष्ट्रव्यापी बुनियादी स्वरूप देने की जरूरत देश-हित-चिंतकों ने महसूस की तब उन्होंने गांधीजी के पास ऐसी योजना की मांग पेश की।

सब लोगों की अपेक्षा थी कि 'भारतीय सगम-सस्कृति का आदर-युक्त अध्ययन' जिसमें प्रधान है ऐसी कोई योजना गांधीजी देंगे। भारत का अध्यात्म, भारत की इतिहास-सिद्ध समन्वित संस्कृति, भारत का संगीत, नाट्य, नृत्य, स्थापत्य, चित्रकला आदि कलात्मक जीवन को प्रोत्साहन देनेवाली योजना गाधीजी से मिलेगी ऐसी सब की अपेक्षा थी। बगाल, पजाब, बिहार, युक्त प्रान्त, महाराष्ट्र, आंध्र, मद्रास आदि प्रदेशों में ऐसे प्रयत्न अच्छे पैमाने पर चालू भी थे।

लेकिन गाधीजी ने इन सब प्रयत्नों के प्रति आदर रखते हुए इनको बाजू पर रखा। धर्म-सस्कृतियाँ अपने-अपने काल मे मानवता की उच्च सेवा कर चुकी हैं। मैज़िनी के काल से राष्ट्रीयता के आदर्श का बोलबाला सारी दुनिया मे फैल चुका था। लेकिन गांधीजी को भूत-काल की उपासना करनी नही थी; भविष्यकाल की नींव डालनी थी। 'नवयुग की अपनी सार्वभौम अहिंसा' समझाते हुए उन्होंने कई बार कहा था—"मैं युद्ध-विरोधी हूँ। हिंसात्मक सघर्ष टालने के युगकार्य का पुरस्कार करता आया हूँ। लेकिन मैं युद्ध से इतना नही डरता, जितना मनुष्य-जाति में सर्वत्र जो शोषण चल रहा है इससे डरता हूँ। 'सत्य, अहिंसा, सयम और सेवा' ही मानवी सस्कृति की चतुर्विध बुनियाद है। युद्ध तो एक रोग है जो बीच-बीच मे प्रकट होता है। लेकिन दिन-रात अखंड चलने वाले सार्वभौम शोषण से बढकर दूसरी कोई हिंसा है नही।" पुरुष-जाति स्त्री-जाति का शोषण करती है। ज्ञानी, चालाक और चतुर लोग अज्ञानी, भोले और असहाय लोगों का शोषण करते हैं। आजकल के करीब-करीब सब सगठन तो शोषण को पूरी सफलता प्राप्त कराने के लिए ही खड़े किये हैं। जो भी लोग असंगठित हैं उनको तो जीवन-संग्राम में परास्त ही होना है।

ऐसे-ऐसे शोषण का इलाज करना अहिंसा-धर्म का प्रधान कार्य है। यह अगर अहिंसक ढंग से नहीं किया तो हिंसा बढ़ती ही जायगी। इसलिए राष्ट्रव्यापी प्राथमिक शिक्षा के द्वारा नये जमाने का मानस ही बदलना आवश्यक है। यह मानस-परिवर्तन धर्मोपदेश से नहीं होगा, जीवन-परिवर्तन से ही हो सकता है।

यह समझकर गांधीजी ने 'कौशल्ययुक्त परिश्रम' को प्रधानता देने-वाली और उसी के आधार पर शिक्षा का पूर्ण तंत्र खड़ा करने की योजना राष्ट्र के सामने रखी।

जिसमें सब तरह के पाप और अन्याय भरे हुए हैं ऐसे शोषण का क्योंकर मनुष्य कायल बनता है? 'मनुष्य को परिश्रम टालना है और आराम से विलासी जीवन व्यतीत करना है। दूसरे के परिश्रम का गैरलाभ उठाकर स्वयं धनी बनना है और दूसरे व्यक्ति के, समाज के और राष्ट्र के सिर पर गरीबी, बेकारी और असहाय स्थिति मढ़नी है।' यही है पापमूलक शोषण का आकर्षण। ऐसे आकर्षण से एक भी राष्ट्र मुक्त नहीं है। ऐसे अन्याय को दूर करने का अहिंसक इलाज एक ही है, समाजव्यापी शिक्षा में परिवर्तन।

गांधी-संस्कृति को मानवताव्यापी करने का, इससे भिन्न, क्या उपाय हो सकता है? इस बुनियादी शिक्षा को व्यावहारिक रूप देने का भार गांधीजी ने एक समिति पर सौंपा, जिसके अध्यक्ष डॉ० जाकिर हुसैन
उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगाकर बुनियादी तालीम को अमल में
कोशिश की। 'सरकार की ओर से यह प्रयोग प्रमाणिकता से
। है', ऐसी घोषणा भी ज़ाकिर साहब ने किसी समय की।
न राष्ट्र-मानस ऐसी आत्मशुद्धि के लिए तैयार नहीं हुआ। गांधीजी
नसीहत अगर मान्य न करनी हो तो उसका सुन्दर इलाज यही है

कि गांधीजी के नाम का जय-जयकार किया जाय, उनको राष्ट्रपिता का विरुद दिया जाय।

बुनियादी तालीम की योजना बनाने के दिनों में ज़ाकिर साहब से हमारा परिचय बढ़ा। गांधीजी की बनाई हुई समिति में हम साथ थे। उसमें हम उनकी आदर्शनिष्ठा और व्यवहार-चतुरता दोनों का अच्छा समन्वय देख सके।

बाद में ज़ाकिर साहब की दूसरी बाज़ू का परिचय तब हुआ जब वे उपराष्ट्रपति की हैसियत से राज्यसभा के सभापति थे। राज्यसभा के एक सदस्य के नाते मैं उनकी कार्यकुशलता और तटस्थता की कदर कर सका था। सब पक्षों के लोग उनकी आत्मीयता महसूस कर सकते थे। गरमागरम चर्चा चलने पर भी वे अपनी खुशमिजाजी खोते नहीं थे।

सब पक्षों के लोगों की बातें सहानुभूति से सुनने के और सब लोगों को राज़ी रखने के उनके स्वभाव के बारे में बिहार के स्नेहियों से मैंने काफी सुना था, जब ज़ाकिर साहब बिहार के राज्यपाल थे।

गांधीजी के मन में ज़ाकिर साहब के बारे में काफी आदर था। क्योंकि उनकी राष्ट्रीयता कभी भी साम्प्रदायिकता से मलिन नहीं हुई थी। ज़ाकिर साहब आदर्शनिष्ठा और व्यवहार का अच्छा समन्वय कर सकते थे। डॉ० ज़ाकिर साहब जैसे थोड़े लोगों की ऐसी समन्वय-शक्ति देखकर मेरे मन में सिक्के की एक उपमा हमेशा जाग्रत होती है।

सब जानते हैं कि गांधीजी सत्य के उपासक होने से सौ प्रतिशत आदर्शवादी थे। लेकिन उनका आदर्श केवल तार्किक अथवा हवा में रहनेवाला नहीं था। अनेक दफे उन्होंने कहा है कि जो धर्म व्यवहार में

सरहद के गांधी
खान अब्दुल गफ्फार खाँ

मैंने अपनी जिंदगी मे जो नेक, पवित्र और सीधे सत-सत्पुरुष देखे हैं उनमें खान अब्दुल गफ्फार खान का स्थान काफी ऊँचा है। उनका ऊँचा भव्य शरीर और उनकी प्रेमपूर्ण मीठी जबान दोनो का असर दिल पर तुरन्त होता ही है। किन्तु मैं उन्हे तब पहचान सका, जब वे बिना किसी का ध्यान खीचे, एक बाजू पर चुपचाप भगवान् का ध्यान करने बैठे थे।

ध्यान मे बैठने का रिवाज दुनिया मे कोई नया या अजीब नही है। लेकिन दिखावे के लिए ध्यान मे बैठने वाले अलग होते हैं, और हृदय की आन्तरिक प्रेरणा से ध्यान मे मगन होने वाले और अपने को भूल जाने वाले अलग होते हैं। खान अब्दुल गफ्फार खान, जिन्हे लोग प्रेम से बादशाह खान कहते हैं, सच्चे ईश्वरभक्त हैं। सबके प्रति उनके मन में प्रेम ही रहता है। लेकिन असत्य, दम्भ और दिखावा वे बिल्कुल सहन नही कर सकते। सचमुच वे खुदाई खिदमतगार ही हैं।

अंग्रेजो के दिनो मे सरकार ने उन्हें पजाब मे रहना मना किया था तब वे वर्धा आकर गाधीजी के पास रहे। उनके परिवार की एक लडकी और एक लड़का भी वहाँ आकर रहे थे। तब हम सब लोग सुबह की प्रार्थना के बाद गाधीजी के साथ घूमने जाते थे। गाधीजी ने सोचा कि इतने लोग रोज घूमने साथ आते हैं इनसे कुछ सेवा लेनी चाहिये। वर्धा

हमारी आशादेवी ने बादशाह खान के लड़के-लड़कियों को सँभालने का जिम्मा ले लिया।

थोड़े ही दिनों में गांधीजी सरहद प्रांत में जाने वाले थे। लेकिन बम्बई के गवर्नर ने बादशाह खान के एक मामूली भाषण का लाभ उठाकर उन्हें जेल भेज दिया और गांधीजी का सरहद जाना उस समय स्थगित हो गया।

बाद में गांधीजी सरहद प्रांत में गये सही। वहाँ का सारा बयान श्री महादेवभाई के मुंह से मैंने सुना था।

भारत के पितामह दादाभाई नौरोजी की लड़की खुरशीद बहन को सब जानते ही हैं। शरीर से दुबली-पतली लेकिन रूहानी ताकत में बड़ी वीरांगना। सरहद के पठानों के बीच वह निर्भयता से जाकर रही। बादशाह खान उनकी रक्षा के लिए अपने एक-दो खुदाई खिदमतगार देने वाले थे। खुरशीद बहन ने कहा, "पठान तो सब मेरे भाई हैं। बहन को भाइयों से रक्षा पाने की जरूरत ही क्या ?" वह तो पठानों के बीच निर्भयता से रहती थी और उनकी सेवा करके उन्हें नसीहत भी देती थी। बहन का यह अधिकार था। जहाँ तक मुझे याद है, सरकार बहादुर ने खुरशीद बहन को भी वहाँ जेल भेजा था।

सरहद के पठान खुरशीद बहन से कहते थे—"बड़ी अजीब सरकार है यह। मारामारी, खून और डकैती करने वाले लोगों को सरकार जेल में भेजे तो हम समझ सकते हैं। लेकिन ऐसी बुराई को रोकने वाले और सब का भला करने वाले नेक लोगों को भी यह सरकार जेल में भेजती है। आखिर यह सरकार क्या चाहती है ?"

बहुत दिनों के बाद मैं बादशाह खान से दिल्ली में मिला। मुझे दिल्ली और आस पास के सब स्थान देखने थे। बादशाह खान को भी सब-कुछ देखना था। मोटर का प्रबन्ध हुआ और हम सब चले।

भगवान् का एक बड़ा शाप काम कर रहा है। दुनिया दिन-पर-दिन गहरी खाई में डूब रही है। दुनिया-भर के राष्ट्र मानव की दुर्दशा देख रहे हैं। आज का मनुष्य बड़ा चिन्तनशील है लेकिन पाप का पश्चात्ताप करके जब पुराना पाप खतम होने लगता है तब भी न जाने कैसे नये-नये पाप बनाता ही जाता है। Even in penance planning sins anew.

जब तक आदमी अपनी मैली-कुचैली बुद्धि चलायेगा, पाप में डूबता ही जायेगा। जमाना ही ऐसा आया है। अगर हम अपनी बुद्धि का अभिमान छोड़कर नम्रता से ईश्वर की शरण जायेंगे और भलाई के रास्ते ही जायेंगे तभी बच सकेंगे और दुनिया को भी बचा सकेंगे।

भारत और पाकिस्तान स्वराज्य लेकर बैठ गये लेकिन बादशाह खान और उनके खुदाई खिदमतगार पठानों की दुर्दशा लगातार चल रही है। पाकिस्तान उनको परेशान करता ही रहता है। उन्होंने पाकिस्तान को मंजूर किया और लोक-सेवा करते रहे तो भी उनकी परेशानी दूर नहीं हुई। आज बादशाह खान अपनी बीमारी का इलाज करने के लिए अफगानिस्तान में रह रहे हैं। और बड़े दुःख के साथ महात्मा जी को याद कर रहे हैं। उनको भूल जाना यह भी एक पाप ही होगा।

१५ जुलाई १९६५

बादशाह खान राष्ट्रपुरुष हैं। उन्होंने पठान जाति को खुदा के सेवक बनने का आदेश दिया और समूचे भारत की आजादी के लिए लड़ने को तैयार किया। जब हम सब लोग समूचे भारत की आजादी के लिए लड़ रहे थे तब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान जैसा भेद नहीं था। देश का बँटवारा नहीं हुआ था। सारा देश एक था।

देश का बँटवारा हुआ यह तो अंग्रेजों की भेदनीति की बलिहारी है। लेकिन यह कहना गलत है कि सारा दोष अंग्रेजों का ही है। अगर समूचे भारत के हिंदू और मुसलमान एक-दिल, एक-प्राण होते तो अंग्रेज देश का बँटवारा हरगिज नहीं कर सकते। हिंदू और मुसलमान अपने को अलग-अलग मानते थे, इसी चीज का अंग्रेजों ने लाभ उठाया। जब कांग्रेस ने आजादी की लड़त चलायी तब अंग्रेजों ने मुस्लिमों को सिखाया कि अगर भारत आजाद हुआ तो भारत में हिन्दुओं की तादाद अधिक है, राज्य उन्हीं का होगा, जिसमें तुम्हारा लाभ नहीं है। मुसलमानों ने वह बात मान ली और मुस्लिम लीग की स्थापना करके कांग्रेस का विरोध शुरू किया। अंग्रेज राज्यकर्ता राजी हुए। फिर जब भारत की आजादी उन्हें कबूल करनी पड़ी तब अपनी खैरख्वाह और कांग्रेस की विरोधी मुस्लिमलीग को उसकी वफादारी के लिये बख्शिश देना उन्होंने अपना धर्म माना। और ब्रिटिश संस्कृति के सर्वोच्च आदर्श को ताकपर रखकर उन्होंने अपनी भेदनीति चलायी और देश का बँटवारा किया। इसका पूरा लाभ उन मुसलमानों को मिला, जो भारत की आजादी के लिए लड़ते नहीं थे, आजादी का विरोध करते थे और अपना अलग राज्य चाहते थे।

दीर्घदर्शी महात्मा गांधीजी को देश का बँटवारा कतई मान्य नहीं था। वे [illegible] थे कि इसमें आत्मा का घात है। उन्होंने बँटवारे का [illegible] कर विरोध किया। और कहा "हम चाहते हैं

कि भारत से अंग्रेजों की हुकूमत दूर हो जाय"। ऐसा करने के लिए अगर मुसलमानों को ज्यादा अधिकार देना जरूरी हुआ तो गांधीजी ने कहा, "सारा राज्य अगर मुसलमानों के हाथ में चला गया तो उसे मैं मंजूर करूँगा। लेकिन देश के टुकड़े नहीं होने दूँगा"। उन्होंने कहा कि जब हम दूर देश से आये हुए विदेशी अंग्रेजों से लड़ कर स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं तब अगर सारा स्वराज्य मुसलमानों के हाथ गया तो हिंदुओं के लिए जो अधिकार चाहिए वह सब अपने मुसलमान राज्यकर्ता भाइयों से प्राप्त करने के लिए हमारा सत्याग्रह का बल काफी होगा। इस देश से परदेशी हुकूमत निकल जाय उसके बाद हम स्वतंत्र होकर एकसाथ किस तरह से रह सकते हैं इस का निपटारा अपने ढंग से कर सकेंगे।"

अंग्रेजों ने और मुस्लिम लीग ने वैसा नहीं होने दिया। जब कांग्रेस ने देखा कि किसी तरह एकसाथ रह कर आजाद बनना शक्य नहीं है, नामुमकिन है तब कांग्रेस के नेता देश के बँटवारे के लिए लाचारी से तैयार हुए।

अगर अंग्रेज देश का बँटवारा हम पर लाद देते तो गांधीजी उसके खिलाफ जीजान से लड़ते। अपनी जान देकर भी भारत की एकता वे कायम रखते। लेकिन जब उन्होंने देखा कि अपने साथी ही बँटवारे को मंजूर करने को तैयार हुए हैं तब वे कुछ कर न सके। उन्होंने कहा कि "सरदार वल्लभभाई और जवाहरलालजी जैसे मेरे साथियों की बुद्धि से मेरी बुद्धि श्रेष्ठ है ऐसा दावा मैं कैसे कर सकता हूँ ?" लाचार होकर गांधीजी खामोश रहे। और उन्होंने देश का बँटवारा होने दिया।

अगर हम उस वक्त अपनी दूरंदेशी चलाकर कहते कि "हम बँटवारा तभी मानेंगे जब अंग्रेज सरकार और मुस्लिम लीग मिल कर कबूल करें कि पठानों के लिए अलग आजादी मान्य करते हैं"।

लेकिन हम ठहरे सिद्धांतवादी। हम कैसे कह सकते थे कि पठानों का एक अलग राष्ट्र है? और हम कुछ अदूर-दृष्टि भी रहे। हमने देखा नहीं कि पाकिस्तान का बनना कबूल करने पर बादशाह खान के पठानों की दुर्दशा होगी। बादशाह खान और उनके भाई डॉ० खानसाहब पाकिस्तान के साथ दुश्मनी चाहते थे सो नहीं। और पाकिस्तान ने तो मीठी बातें चलायी कि हम सब मुसलमान एक हैं। पठानों को डरने का कोई कारण ही नहीं। अगर हम लोगों में पूरी दूरदेशी होती और बादशाह खान की सेवा की हम पूरी कदर कर सकते तो हमारे लिए एक रास्ता था। हम कह सकते थे—

हमने कभी कबूल नहीं किया है कि हिंदू और मुसलमान अलग-अलग राष्ट्र हैं। इसीलिए हमने बँटवारा कबूल किया तब भी यह कबूल नहीं किया कि पाकिस्तान के हिन्दू इस बाजू आ जायें और भारत के मुसलमान उस बाजू चले जायें। किन्तु बँटवारा होने के पहले जिन हिन्दुओं को पाकिस्तान छोड़कर भारत में आना है उनको वैसा करने दिया जाय और जिन मुसलमानों को भारत छोड़कर पाकिस्तान जाना है उनको वैसा पहले ही करने दिया जाय। अपनी-अपनी जायदाद बेचने का और ले जाने का उन्हें पूरा मौका दिया जाना चाहिये।

यह एक बात। और दूसरी शर्त हम कर सकते थे, जो सब से महत्त्व की थी।

देश का बँटवारा हम तब मानेंगे जब पठान को उनकी इच्छा के अनुसार पहले पख्तुनिस्तान दिया जाय। उनकी पूरी आजादी मान्य की जाये। और इस तरह भारत (हिन्दुस्तान), पाकिस्तान और पख्तुनिस्तान ऐसे तीन देश पूरी तरह से अलग और स्वतंत्र होने के बाद अगर पठान लोग पाकिस्तान में मिल जाने का पसन्द करें तो उन्हें वैसा करने का पूरा

अधिकार रहेगा। लेकिन सबसे पहले आजाद पख्तुनिस्तान बन जाय तभी पाकिस्तान के बनने में हम अपनी सम्मति देंगे।

अगर ऐसा नहीं हुआ तो हम लड़ते रहेंगे, फिर भले ही हमें अंग्रेज और मुस्लिम लीग की सम्मिलित शक्ति के साथ लड़ना पड़े।

मुझे विश्वास है कि अंग्रेज इस बात को मान जाते। मुस्लिम लीग राजीखुशी से नहीं मानती, बड़ा होहल्ला करती लेकिन मुस्लिम लीग को मनवाना अंग्रेजों के लिए बड़ी बात नहीं थी। यह हम से नहीं हुआ यह हमारी बड़ी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक गलती हुई, जिसका इलाज देश का बँटवारा होने के बाद हमारे हाथ में नहीं रहा।

मैं ऐसे समय की बात कर रहा हूँ जब अंग्रेजों ने हमारे सामने कश्मीर का सवाल रखा ही नहीं था। कश्मीर में उस वक्त कश्मीर के राजा का राज्य था जिसे अपने भविष्य का सोचने का पूरा अधिकार था। उस वक्त अगर हम पख्तुनिस्तान की आजादी प्राप्त कर सकते तो कश्मीर का सवाल खड़ा ही नहीं होता। फिर तो कश्मीर के राजा के सामने दो-तीन रास्ते ही रहते। या तो भारत के साथ मिल जाना, या स्वतंत्र रहना। स्वतंत्र रहना उसके लिए अशक्य होता क्योंकि प्रजा-मत के विरुद्ध राजा की मदद करना न भारत की नीति थी न पाकिस्तान की हो सकती थी।

स्वतंत्र पख्तुनिस्तान के साथ देखादेखी कश्मीर भी स्वतंत्र हो जाता, लेकिन उस हालत में उसका नेतृत्व और ढंग का होता, आज के जैसा मतलबी नहीं।

और शुद्ध नीति के अनुसार ये सब विभाग स्वतंत्र होने के बाद यथासमय इन सब का नेपाल, बर्मा, सिलोन आदि पड़ोसियों को लेकर एक

विशाल फेडरेशन भी हो जाता। शुद्ध नीति का फल हितकर होना ही चाहिये।

क्या हो सकता था, क्या नही हो सकता था इसकी आज चर्चा करना ही व्यर्थ है। सवाल है, आज हम क्या कर सकते हैं?

सवाल अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप का है। इसमे तो जागतिक परिस्थिति को ही देख कर चलना चाहिये। पाकिस्तान और इजराइल जैसे छोटे-छोटे राष्ट्र भी राष्ट्रसंघ के अभिप्राय को बाजू पर रख कर अपनी चला सकते हैं। इसके पीछे परिस्थिति की कौनसी कमजोरी है यह देखना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अकेले बलके हिसाब से नही चल सकती और अकेले किसी सार्वभौम सिद्धांत के आग्रह से भी नही चल सकती। कुल मिला कर जो रास्ता ठीक लगे और चल सके उसीको लेना पडता है। उसकी चर्चा आज व्यर्थ है। आज तो हम बादशाह खान के प्रयत्न को मजबूत करने के लिए जो भी प्रजामत व्यक्त कर सकते हैं, करते जायें और भगवान् से प्रार्थना करें कि जागतिक परिस्थिति इस तरह से अनुकूल हो जाय कि बादशाह खान को जीते-जी संतोष मिल सके।

१५ जून १९६९

भावना-क्रांति के अग्रदूत श्री विनोबा

[१]

बहुत कम लोग जानते होंगे कि श्री विनोबा भावे का और मेरा संबंध बहुत पुराना है। इतना पुराना है कि उन दिनों न मैंने गांधीजी के बारे में सोचा था न विनोबा ने। मैं बड़ौदा की एक राष्ट्रीय शाला 'गंगनाथ भारतीय सर्व विद्यालय' का आचार्य था और विनोबा भावे बड़ौदा कालेज के एक विद्यार्थी थे। वहाँ उनकी द्वितीय भाषा संस्कृत नहीं, किन्तु फ्रेंच थी। उनका और मेरा संबंध स्थापित होने का कोई कारण भी नहीं था। लेकिन आकाश के सितारे क्या नहीं कर सकते? उन दिनों दक्षिण कर्नाटक से एक संस्कारी जवान गंगनाथ विद्यालय के संस्थापक बैरिस्टर देशपाण्डे से मिलने आये थे। उनका नाम था मंजेश्वर गोविन्द पै। उन्होंने मुझे आकाश के तारों के देशी नाम बताये। इतना ही नहीं, उनका प्रत्यक्ष काफी परिचय भी करवाया। पश्चिम का खगोल ज्योतिष मैं जानता ही था। भारतीय ज्योतिष-शास्त्र की किताबें मैंने मंगवायीं। और दोनों की मदद से आकाश के 'ग्रह-नक्षत्र-तारों' को मैं पहचानने लगा और उनकी गति के बारे में गणित भी करने लगा।

मेरा स्वभाव रहा प्रचारक का। मैंने 'आकाश के तारों के काव्य' के बारे में प्रचार शुरू किया। उसकी बातें कालेज तक पहुँची। वह सुन कर कालेज के लड़के सूर्यास्त के बाद मेरे पास आने लगे। उनकी सन्ध्या बढ़ते ही श्री विनायक नरहर भावे उनमें खिंच आये। रात शुरू होते ही जितने नक्षत्र और ग्रह दीख पड़ते हैं उनका परिचय उन्होंने मुझसे देखते-देखते पा लिया। उनके एक मित्र ने गीता के बारे में दिलचस्पी बतायी। तब मैंने स्वामी स्वरूपानन्द की गीता अंग्रेजी अनुवाद के साथ वाली उनको दे दी। पता नहीं विनोबा बाद में अपने एक सहपाठी से संस्कृत कब सीखे और उनमें गीता का आकर्षण कब पैदा हुआ। बहुत वर्षों के बाद मैंने विनोबा के पास मेरी स्वरूपानन्द-वाली गीता पाई तब मुझे पुराने दिन याद आये।

अभी-अभी जब मैं बिहार गया था, विनोबाजी से मिला। उनके शिष्य भी वहाँ बैठे थे। तब गणिती विनोबा ने आसपास के लोगों से कहा "मैं काकासाहब से दस वर्ष छोटा हूँ। लेकिन महीने के हिसाब से पौने तीन महीने उनसे बड़ा हूँ।" तब से विनोबाजी की जन्म तारीख ११ सितम्बर मुझे याद रह गई है। मैंने विनोबाजी से पूछा, मेरी जन्म तारीख एक दिसम्बर कैसे याद रही? उन्होंने कहा "वेल्लोर जेल में हम साथ थे तब आपने पहली दिसम्बर को जन्म दिन का उपवास किया था, इसलिए तारीख याद रही।" विनोबा की स्मरण-शक्ति बड़ी तेज है।

हम दोनों गांधीजी के आश्रम में दाखिल हुए इसमें भी सिनियर कौन और जुनियर कौन इसका विचित्र सवाल है।

मैं गांधीजी से सन् १९१५ के फरवरी में ही शायद मिला था। वे दक्षिण आफ्रिका से विलायत जा कर भारत लौटे थे और फिनिक्स आश्रम के अपने साथियों से मिलने के लिए शान्तिनिकेतन पहुँचे थे।

[illegible] दिया कि [illegible] और [illegible] के गांधीजी ने [illegible] के [illegible] में [illegible] प्रेमपूर्वक [illegible] किया गया। उन्हीं दिनों गांधी-जी ने मुझे अपने आश्रम में आने का आमन्त्रण दिया था। [illegible] से [illegible] कोचरब [illegible] था। [illegible] अहमदाबाद के [illegible] आश्रम में [illegible] दिन पहले विनोबाजी आश्रम के [illegible] थे, लेकिन [illegible] थे। विनोबा ने आश्रम में प्रवेश पाते ही गांधीजी से कहा कि संस्कृत विद्या के सम्बन्ध में [illegible] है। उसे पूरा करने के लिए एक साल की छुट्टी [illegible] पाठशाला में नारायणराव शास्त्री मराठे के पास जाना चाहता है।

इस तरह विनोबा चले गये। और अपने आश्रम में दाखिल होते ही विद्यार्थियों को संस्कृत सिखाने का काम फिर शुरू किया गया। विनोबा का एक साल जिस दिन पूरा हुआ उसी दिन आश्रम पहुँचकर उन्होंने अपना काम शुरू किया। नये-नये लोग मानने लगे कि आश्रमवासियों में सिनियर है। विनोबा जूनियर है। मैंने कहा गणित के हिसाब से देखा जाये तो वे सिनियर है। और संकल्प की दृष्टि से और प्रत्यक्ष काम की दृष्टि से भी सिनियर हैं।

आज गांधीजी के देहान्त को जब बीस वर्ष हो गये है, मैं कह सकता हूँ कि गांधीकार्य के प्रचार में और विस्तार में विनोबाजी हम सब में सिनियरमोस्ट हैं।

११ सितम्बर १९६८

: २ :

साबरमती आश्रम के प्रारम्भ के दिन थे। हम सब गाधीजी के आकर्षण से इकट्ठा हुए थे। एक-दूसरे को अच्छी तरह से नही पहचानते थे। गाधीजी ने आश्रम के बच्चो की पढाई के लिए एक छोटीसी शाला आश्रम के अन्दर स्थापित की थी जो आश्रम से स्वतन्त्र मानी जाती थी। शिक्षकों के लिए आश्रम के सब नियम लागू नही थे, हालाँकि हम सब लोगों की कोशिश आश्रम के सब नियमो का पालन करने की ही रहती थी। सिद्धान्तो की चर्चा और आश्रम-जीवन की 'स्मृति' की चर्चा अखण्ड चलती रहती थी। तरह-तरह के मतभेद होते हुए भी हम लोगों के बीच एकता का तत्त्व और परस्पर आकर्षण कम न था। एक तरह से हम सब लोग मन्त्रमुग्ध हो थे।

गरमी के दिन आये। शाला के लिए अवकाश का समय था। शाला के शिक्षक और विद्यार्थी सब लोगो ने सोचा कि कही पैदल यात्रा के लिए जाना चाहिये। ऐसी यात्रा के अनुभवी और रसिये हम शिक्षको मे दो ही थे। श्री विनोबा भावे ने महाराष्ट्र के अनेक विभागो मे घूमकर श्री शिवाजी के बहुत से किले देखे थे। मैंने तो हजारो मील की हिमालय की यात्रा भी की थी। विनोबाजी आश्रमवासी थे तो भी शाला के शिक्षकमण्डल मे भी थे। हम सबो ने इस पैदल यात्रा के नेता के रूप में श्री विनोबा भावे को ही चुन लिया।

गाधीजी ने हमे आशीर्वाद देते हुए कहा था कि 'कभी भी अमुक मीलों से कम मुसाफिरी नही करोगे न ?' हमारे लिए यह आदेश ही हो गया। इस नियम के कठोर पालन के कारण प्रारम्भ से कठिनाइयाँ शुरू हुई। अपना-अपना सब सामान स्वय उठाकर यात्रा करने की बात थी। एक दिन के अनुभव के बाद बहुत कुछ सामान वापस भेजना पड़ा। रास्ते मे तरह-तरह के अनुभव हुए। वह सारा प्रवास इतना रोचक था

कि उसका वर्णन ग्राज भी पूरा-पूरा लिख सकते हैं। लेकिन उस प्रवास से लौटने के दिनों का एक ग्रन्तिम प्रसंग ग्राज यहाँ देने का विचार है।

साबरमती से पैदल चलते हम ग्राबू की पहाड़ी तक पहुँचे थे। वहाँ के विश्वविख्यात जैन मन्दिर देख कर ग्रौर नखी तालाव में जलविहार कर के हम लौटे थे। लौटते समय हमारे दल के कई विभाग हो चुके थे। हम तीन ग्रन्तिम दल में रहे। श्री विनोबाजी, मैं ग्रौर बिलासपुर के रामानन्दजी।

हम पालनपुर-डिसा के रास्ते लौट रहे थे। ज्यादातर रेलवे लाईन के किनारे-किनारे चलने का हमने नियम किया था। शाम को छोटी लाईन के एक स्टेशन पर पहुँचे। वहाँ के स्टेशन मास्टर से हमने पूछा कि, "यहाँ से साबरमती का स्टेशन कितना दूर है?" स्टेशन वालों से माँग कर थोड़ा पानी भी हम लोगों ने पी लिया ग्रौर हम चल पड़े। रात के सोने के पहले ग्राश्रम में पहुँचने की बात थी। हम रेल के किनारे-किनारे जाने वाले हैं इतना जानते हुए भी स्टेशन-मास्टर ने या किसी ने हमें नहीं कहा कि थोड़े समय के बाद एक रेलगाड़ी पीछे से ग्रा कर उसी रास्ते से साबरमती हो कर ग्रहमदाबाद जाने वाली है।

हम लोग चले। बहुत दिनों की मुसाफिरी थी इसलिए ग्रापस में बातें करने की चीजें कब की खतम हुई थीं। हम करीब मौन रख कर ही चलते थे। इत्तिफाक से रामानन्द जी हम से कुछ ग्रागे थे। विनोबा ग्रौर मैं कुछ चर्चा करते साथ चल रहे थे। इतने में एक रेल का पुल सामने दीख पड़ा। इन छोटे पुलों में पैदल जाने वालों के लिए बाजू का रास्ता नहीं होता। रेल की पटरी के नीचे मिट्टी की जमीन भी नहीं होती। फुट-फुट के ग्रन्तर पर लकड़ी की पटरियाँ होती हैं। दोनों के बीच कुछ नहीं होता। पुल पर से जाते एक पटरी पर से दूसरी पटरी पर पाँव रख कर ही जाना पड़ता है। दो पटरियों के बीच नीचे के प्रवाह का पानी ग्रादि सब कुछ दीख पड़ता है।

हम पुल पर से जाने लगे इतने में पीछे से ट्रेन की आवाज सुनाई दी। मुड़कर देखते हैं, तो दूर से एक एंजिन अपनी सारी ट्रेन को ले कर कालपुरुष के जैसा हमारे पीछे से बड़े वेग से आ रहा है। रामानन्द जी सबसे आगे थे। मैं बीच में था। श्री विनोबा जी मेरे पीछे-पीछे आ रहे थे। ट्रेन को देखते ही हमने भागना शुरू किया। पुल पर से नीचे कूद पड़ना अशक्य था। बाजू पर खिसक जाने की तो गुंजाइश ही नहीं थी। रामानन्दजी काफी आगे होने से वे तो पुल पूरा करके बाजू पर पहुँच गये थे। मैं जोरों से दौड़ने लगा। विनोबाजी मेरे पीछे-पीछे दौड़ते आ रहे थे। मैं जानता था कि विनोबाजी की आँखें कमजोर हैं। तो भी चश्मा न पहनने का और चप्पल भी इस्तेमाल नहीं करने का उनका नियम था। अगर दौड़ते नीचे की पटरी बराबर देख न सके और दो पटरियों के बीच पाँव आ गया तो वे एकदम गिर पड़ेंगे और एंजिन उन पर से पसार होगा। लेकिन उनकी सहायता क्या कर सकता था? दौड़ते-दौड़ते मैंने पुल पार किया और अच्छी जमीन देखते ही बायीं ओर कूद पड़ा। और पीछे देखता हूँ तो विनोबा दौड़ रहे हैं और एंजिन उनके करीब आ पहुँचा है। मेरी छाती में मानो किसी ने बड़ा पत्थर मार दिया हो। आँखों के सामने अँधेरा छा गया। लेकिन शाम का अंधेरा भी आसपास के सारे प्रदेश पर फैल गया था। मैंने चिल्ला कर कहा—"Vinoba, jump to the left!"

अँधेरे में विनोबा कुछ देख नहीं सकते थे। उन्होंने बाद में मुझसे कहा, "मैं पटरियाँ देख नहीं सकता था। लेकिन मैं जानता था कि सब पटरियाँ समान अन्तर पर हैं। इसलिए मैंने दौड़ने का एक ताल पकड़ लिया और भगवान् का नाम लेकर उस ताल के अनुसार दौड़ता रहा। इसलिए गिरने का कोई डर नहीं रहा। जीवन में भी अगर ताल मिलता है तो गिरने का डर नहीं होता। मैं समझ चुका था कि एंजिन बिल्कुल करीब आ रहा है। तुम बायीं ओर कूद पड़े सो भी मैं

देख नहीं सका था। सिर्फ तुम्हारी आवाज सुनी और एकदम बायीं ओर मैंने फलाँग मारी।"

मैंने बायीं ओर कूदते विनोबा को अपने बाहुपाश में ही ले लिया। मन में ख्याल हुआ, 'भगवान् ने ही इन्हें बचाकर हमें प्रसाद के रूप में दे दिया है।' अगर दो-चार क्षण की ही देरी होती तो एंजिन ने विनोबा को गिरा दिया होता और उन के शरीर का चूरेचूरा हो जाता।

धड़धड़ करते सारी ट्रेन चली गयी। कण्ठ गद्‌गद् होने के कारण मैं कुछ समय तक बोल ही न सका। बाद में हम तीनों ईश्वर का उपकार मानते उसी रेलवे लाइन पर से साबरमती स्टेशन पहुँचे। वहाँ से रेलवे की सब लाइनें लाँघकर साबरमती जेल की ओर पहुँचे। काफी थके हुए थे ही। किसी भी सूरत से हम आश्रम पहुँच गये और ईश्वर का स्मरण करते निद्राधीन हो गये।

दूसरे दिन प्रार्थना के बाद मैंने सारा किस्सा पू० बापूजी को सुनाया और उनसे कहा, "इन विनोबा को आप ही समझा सकते हैं। गरमी के दिनों में महाराष्ट्र की नंगे पाँव यात्रा करते इनकी आँखें कमजोर हुई हैं। तो भी न चप्पल पहनते हैं, न चश्मा। आप ही इन्हें आदेश दीजिए। नहीं तो अनुभव से सुधार करने वाले ये हैं नहीं।" महात्माजी ने विनोबाजी को बुलाया और कुछ भी चर्चा न करते हुए आदेश दिया। फिर विनोबाजी क्या करते ? उन्होंने चश्मा भी ले लिया और वे चप्पल भी पहनने लगे।

मुझे विश्वास है कि उस शाम के अँधेरे में मैंने जो कृतज्ञतापूर्वक विनोबा की दीर्घायु के लिए भगवान् से प्रार्थना की वही आज उनके जन्मदिन के निमित्त करोड़ों भारतवासी और अन्य लोग भी करेंगे।

९ सितम्बर १९५८

: ३ :

महाराष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ सत और लोककवि श्री तुकाराम ने अपने एक अमर अभग मे कहा है—

जे का रंजले गांजले । त्यांसि म्हणे जो आपुले ।
तोचि साधु ओळखावा । देव तेथेचि जाणावा ॥

इस दुनिया मे जो लोग दबे हुए हैं, पिछड़े हुए हैं, अनाथ जैसे हैं, उनको जो अपनाता है, वही सच्चा सत है । उसी के हृदय मे भगवान् हमेशा विराजते हैं । आज के हमारे जमाने मे ऐसे एक सत—सत्-पुरुष—हो गये महात्मा गाधी, जिनका नाम दुनिया के सब लोग अब जानते हैं, इतना ही नही, देश-देशान्तर के दबे हुए लोग उनसे आश्वासन और प्रेरणा भी पाते है ।

ऐसे विश्ववद्य महात्मा गांधी के एक शिष्य हैं श्री विनोबा भावे । गाधीजी का जन्म गुजरात मे हुआ लेकिन वे सिर्फ गुजरात के नही थे । इसी तरह श्री विनोबा भावे का जन्म भले ही महाराष्ट्र मे हुआ हो, वे केवल महाराष्ट्र के नहीं हैं । समूचे भारत के गरीबों की सेवा का काम लेकर वे बरसो से पैदल भारत मे घूम रहे हैं । गांव-गांव मे जाकर वे लोगो को जगाते हैं, लोगो के दिलो मे प्रेम, आत्मीयता व सेवाभाव को जगाते हैं । और कहते हैं कि सारी दुनिया एक बडा परिवार है । सब हमारे हैं, हम सब के हैं । सब की सेवा करना हरएक का धर्म है ।

श्री विनोबा बडे विद्वान् हैं । संस्कृत भाषा और सस्कृत के धर्म-साहित्य का उनका परिचय गहरा है । दुनिया के सब धर्मों के धर्मग्रन्थ उन्होंने पढे हैं । भगवद्गीता के प्रति उनकी निष्ठा इतनी है कि वे गीता को अपनी माँ कहते हैं । गीता का जो मराठी अनुवाद उन्होंने किया

है, उसको उन्होंने नाम दिया है 'गीताई'। 'गीताई' के मानी हैं, 'गीतामाता'। गीता के अनुवाद बहुत हुए हैं। उन सबमें 'गीताई' सबसे अच्छा अनुवाद है। इस गीता पर बहुत अच्छा भाष्य लिखा श्री शंकराचार्य ने। इसी गीता पर एक बड़ा सुन्दर, मार्मिक काव्यग्रन्थ लिखा संत कवि ज्ञानेश्वर ने। और गीता के उपदेश के अनुसार आचरण करके दिखाया महात्मा गांधी ने। विनोबा तीनों को अपने गुरु मानते हैं और हम कह सकते हैं कि तीनों का पूरा असर विनोबा में पाया जाता है।

जैसे गांधीजी के मन में सब धर्मों के प्रति पूरा-पूरा आदर था वैसा ही विनोबा के मन में भी है। उन्होंने बड़ी मेहनत से कुराने शरीफ, मूल अरबी भाषा में पढ़ा। उसकी कई आयतें (श्लोक) विनोबा को कंठ हैं।

भारत के लोगों की प्रत्यक्ष सेवा करनी हो तो वह अंग्रेजी के जरिये नहीं हो सकती। हिन्दी के जरिये भा सबकी सेवा नहीं हो सकती। इसलिए विनोबा ने भारत की सब प्रधान भाषाएँ सीखने की ठानी। आज उनको मराठी, गुजराती, हिन्दी, तमिल, तेलुगू, मलयालम कन्नड, बंगला आदि अनेक भाषाओं का अच्छा ज्ञान है।

भूमिदान के सिलसिले में वे गाँव-गाँव घूमते हैं, वहाँ के लोगों के हृदय की बातें उन्हीं की भाषा में समझ लेते हैं, इसलिए लोग उनसे राजी हैं।

श्री विनोबा ने देखा कि देश में ऐसे लाखों गरीब लोग हैं, जो खेती का काम जानते हैं लेकिन उनके पास जमीन नहीं होने से बड़ी परेशानी में रहते हैं। गरीबों को मेहनत-मजदूरी करने से इतने पैसे तो नहीं मिलते हैं कि पैसे बचा कर जमीन खरीद लें। आज के समाज की हालत ही ऐसी विचित्र है कि गरीब लोग गरीब के गरीब ही रहते हैं और मालदार लोग अमीर बनते जाते हैं। आजकल की सरकारें गरीबों को

थोड़ी कुछ शिक्षा दे देती हैं। लोगों की पढ़ाई अब थोड़ी बहुत हो सकती है। और देशों में गरीब लोगों ने झगड़ा करके अपनी हालत सुधारने की कोशिशें कई बार की। इसी में से एक ख्याल निकला—सरकार को चाहिए कि सब जमीन अपने हाथ में लेकर गरीबों में बाँट दे। ऐसा कुछ करने से ही गरीबों की हालत सुधर जायगी। छोटे-बड़े अनेक देशों में इस बात की खूब चर्चा हुई। और इसमें से समाज-सत्तावाद और साम्यवाद जैसे राज्य चलाने के प्रकार पैदा हुए।

अब इसमें से सवाल यह उठा कि जिस पर गरीबों का—सबका पेट निर्भर है, ऐसी जमीन थोड़े लोगों के ही हाथ में रहे यह भी अन्याय है और जिन के पास जमीन है उनके पास से जबरदस्ती जमीन छीन लेना यह भी अन्याय है। इसमें से रास्ता कैसे निकाला जाय ?

विनोबा ने सोचा कि जिस तरह हरेक आदमी के दिल में स्वार्थ होता है, अपनी मिल्कियत छोड़ने को कोई राजी नहीं होता, उसी तरह हरेक मनुष्य के हृदय में प्रेम और सेवाभाव भी होता है। देश के सब लोग एक दूसरे के भाई ही हैं। अपने भाई का दुःख देखकर दिल का द्रवित होना स्वाभाविक है। तो ऐसे बंधुभाव को हम जाग्रत क्यों न करें ? मनुष्य प्राणी जैसा स्वार्थी है वैसा दयावान् भी है। लोग अपने परिवार के लोगों को खिलाकर ही खाते हैं। "जो मेरा है वह मेरे भाई का भी है" ऐसा सोच कर चलते हैं। तो, जिनके पास जमीन है उन से हम क्यों थोड़ी जमीन माँग न लें ? लोग जरूर ऐसी माँग को मंजूर रखेंगे। विनोबा ने मनुष्य-हृदय पर विश्वास रख कर भूमिहीन लोगों के लिए जमीन माँगना शुरू किया। 'लोग देंगे ही' ऐसे विश्वास को श्रद्धा कहते हैं। यही सच्ची आस्तिकता है। विनोबा को जमीन मिलने लगी। दुनिया को आश्चर्य हुआ। लोग तरह-तरह की शंका करने लगे। लेकिन विनोबा रुके नहीं। उनका काम चलता ही जाता है। विनोबा ने जाहिर किया कि जो जमीन मिलेगी, गरीबों को दे दूँगा। उनमें-

बेचारे हरिजनों को सबसे पहले जमीन दूँगा। क्योंकि उनका दुःख सबसे ज्यादा है।

लाखों एकड़ जमीन विनोबा को मिली है। बाद में उन्होंने एक कदम आगे बढ़ाया है। उनकी बात सुनकर कई गाँव के लोग सब मिल कर अपनी कुल सारी जमीन विनोबा को दे देते हैं। उसको कहते हैं ग्रामदान। गाँव की कुल जमीन इस तरह मिलने पर विनोबा कहते हैं कि अब यह सारी जमीन मैं सारे गाँव को देता हूँ। जमीन सारे गाँव की। सब लोग मिल कर एक परिवार बनें। जमीन कसने का कष्ट साथ मिल कर करें, और जो उपज हो, उसे सब मिल कर के आपस में, जरूरत के अनुसार बाँट लें।

जबरदस्ती या कानून के द्वारा किसी से जमीन छीन लेने की बात इसमें नहीं है। जमीन खरीदने की भी बात नहीं है। और तो भी किसी के पास जमीन ज्यादा और किसी के पास कम, ऐसा अन्याय दूर हो रहा है। बंधुता बढ़ रही है। जातिभेद, धर्मभेद, जैसे भेदों को लोग अब भूल रहे हैं। और इस तरह, किसी झगड़े के बिना, समाज में परिवर्तन होता है तब उसे क्रांति कहते हैं।

विनोबा ने जो यह क्रांति चलाई है, उसे देख कर दूर-दूर देशों के लोग, यूरोप और अमेरिका के लोग आश्चर्यचकित हो कर भारत आ रहे हैं और विनोबा के साथ कुछ दिन रह कर उनके बारे में किताबें लिख रहे हैं।

विनोबा का काम सबका काम है। उसे करने के लिए उन्हें जगह-जगह सर्वस्व-त्यागी लोग भी मिल रहे हैं। जहाँ सारा गाँव का गाँव विनोबा को दे दिया जाता है, वहाँ गाँव की नये सिरे से रचना करने की बात सोची जाती है। उसके लिए उन्हें कायम-सेवक चाहिए। चन्द लोग उन्हें मिल रहे हैं। और बहुत लोगों की जरूरत है।

गाँव के लोगों को जल्दी और उपयोगी शिक्षा देने के लिए गांधीजी ने जो प्रबन्ध किया था, वह सब बड़े ही काम का साबित हुआ है। इस नई तालीम के द्वारा देश के लिए अच्छे नेता तैयार हो रहे हैं। लेकिन जितनी संख्या में मिलने चाहियें इतने सेवक या शिक्षक अभी तक नहीं मिले हैं।

विनोबाजी ने और एक बात जरूरी समझी है। भूमिदान और ग्रामदान के द्वारा जो अहिंसक क्रान्ति उन्होंने चलाई है उसमें ग्राम की रक्षा भी अहिंसक ढंग से होनी चाहिए। अहिंसक समाज रोज उठ कर पुलिस की और फौज की मदद कैसे मांग सकता है? जहाँ गाँव एक परिवार हुआ वहाँ झगड़ा-फसाद तो नहीं होने चाहियें। लेकिन कभी-कभी झगड़ा हो ही जाता है। ऐसे झगड़े दूर करने के लिए और शान्ति की स्थापना के लिए ऐसे लोग चाहियें जो अपने चारित्र्य द्वारा और सेवा द्वारा जनता पर प्रभाव डाल सकें और झगड़े को रोक सकें, और जरूरत पड़ने पर अपना बलिदान भी दे सकें। ऐसे लोगों का संगठन अगर जगह-जगह हो सका तो पुलिस और फौज पर जो बेहद पैसा आज खर्च होता है वह बहुत कुछ बच जायगा, लोगों की सज्जनता बढ़ेगी और उसके साथ लोगों का आत्म विश्वास भी बढ़ेगा, हिम्मत तो बढ़ेगी ही।

यह सारा काम जिस आत्मबल पर विनोबा कर रहे हैं, उस का परिचय उन्हें गांधीजी के द्वारा हुआ। और वे गांधीजी का ही काम आगे चला रहे हैं। जिस भगवान् ने युगकार्य के लिए गांधीजी को इस दुनिया में भेजा, वही भगवान् गांधीजी का कार्य विनोबा के मार्फत आगे चला रहे हैं, जिसका असर आज भारत पर हो रहा है, कल भारत के बाहर भी होगा। क्योंकि यह युगकार्य है। इस युग के बालक और युवक विनोबा के कार्य को पहचानें और उसे सफल बनाने के लिए उन से जो कुछ भी हो सके, जरूर करें।

२३ सितंबर १९५८

[२]

श्री विनोबा की तीन प्रधान प्रवृत्तियां

आज आप लोग चाहते हैं कि मैं विनोबाजी की तीन प्रधान प्रवृत्तियों के बारे में कुछ कहूं। उनमें पहले खादी को ही लेना चाहिए। क्योंकि गांधीजी ने स्वयं कहा था कि "मेरी अनेकानेक रचनात्मक प्रवृत्तियों के ग्रहमंडल का सूर्य है खादी।"

खादी का अर्थ 'हाथ से कते हुए सूत में से हाथबुनाई से बना हुआ कपड़ा' इतना ही नहीं है। गांधीजी चाहते थे कि दुनिया 'खादी-मानस' धारण करे। जिस सम्पूर्ण निष्पाप, सर्वकल्याणकारी जीवन की झाँकी बापूजी देश को कराना चाहते थे उस जीवन को ही वे खादी-जीवन कहते थे। खादी-जीवन ही सर्वोदय-जीवन का प्रतीक है।

खेती के बाद सबसे विशाल सर्वोपयोगी उद्योग है वस्त्रनिर्माण का। उस उद्योग के द्वारा अगर कोई अधिक से अधिक मुनाफा करना चाहे और इसलिए उसमें यंत्रोद्योग की पद्धति दाखिल कर समाज में वेकारी फैला देवे तो वह राष्ट्रद्रोह है, ऐसा जो समझे हैं उन्हीं के मानस को हम 'खादी-मानस' कहते हैं। गांधीजी का सर्वोदय सिद्धान्त कहता है, 'देश के सब लोगों को खिलाने-पिलाने का प्रबन्ध किये बिना जो आदमी खाता है वह चोर है। वह पाप खाता है। उसका जीवन व्यर्थ है। मोघं पार्थ ! स जीवति।' सबको खाना हम तब दे सकते हैं जब सबको

राष्ट्रहित का कोई-न-कोई उत्पादक काम करने का मौका देते हैं। करोड़ों को इस तरह रोजी देने की शक्ति केवल खेती में है और खादी में है। खेती का काम गाँवों में चलता है, शहरों में नहीं। खादी का काम दोनों स्थानों पर चल सकता है। गाँव और शहर का सहयोग घनिष्ठ बनाने की शक्ति खादी में है।

एक दफे 'दस तकुवेवाला एक चरखा' बनाने की सूचना आई। इसके लिए लाख रुपये का इनाम भी घोषित किया गया। एक महाराष्ट्री कल्पक ने ऐसा चरखा तैयार किया। इनाम की शर्तों के अनुसार वह काम देता है या नहीं इसकी जाँच करनी थी। गांधीजी ने विनोबाजी को और मुझको परीक्षक के तौर पर नियुक्त किया। क्योंकि चरखे की यंत्रविद्या के हम दोनों माहिर गिने जाते थे। उस चरखे का सारा इतिहास सुनाने का यह स्थान नहीं है। इसी सिलसिले में जब आगे जा कर अम्बर चरखे का आविष्कार हुआ तब हम गांधीवादियों में बड़ा मतभेद हुआ। विनोबा ने और मैंने अम्बर चरखे का समर्थन किया। इस चरखे का तत्त्वतः पूरा विरोध करने वालों में थे (और आज भी हैं) गांधीजी के भतीजे और आश्रम के किसी समय के व्यवस्थापक श्री नारायणदास गांधी। हम तो तरह तरह की तकलियाँ, धनुष तकली, पुराने-नये चरखे सबके प्रयोग कर चुके थे। अम्बर चरखे को 'घरेलू मिल का नया' कहने वाले को भी हमने सुना था। हमारा कहना था, जो आज भी सही है, कि हम सार्वभौम विज्ञान का बहिष्कार नहीं कर सकते। आठ घण्टे सूत कातने वालों को पेट भरने जितनी रोजी मिलनी चाहिए जो अम्बर चरखे से मिल सकती है।

उसी सिलसिले में मैंने विरोधियों से सवाल पूछा था कि "क्या हम खादी का पुरस्कार करके देश में आदिवासियों का जीवन फिरसे सार्वत्रिक करना चाहते हैं।"

श्री विनोवाजी तो इससे एक कदम आगे गये। उन्होंने बाकायदा ईमानदारी से आठ घंटा पुराना चरखा चला कर बाजार के हिसाब से जो कुछ मजदूरी मिल सकती थी उसके अन्दर ही जीने का तय किया। उनका आहार घट गया। पौष्टिक पदार्थ के अभाव में उनका स्वास्थ्य क्षीण हुआ। वात गांधीजी के कानों तक पहुँची। देशभर में खादी का काम फैलाने का ही भार जिनके सिर था ऐसे लोगों को गांधीजी ने इकट्ठा किया। और विनोवा का उदाहरण उनके सामने रख कर सबसे अपील की कि सूत कातने वाली कत्तिनों को जीवन-वेतन मिलना ही चाहिए। इससे खादी महँगी हुई तो वह इष्टापत्ति ही है। खादी सस्ती करने के लिए गरीबों का शोषण करने का पाप हमें नहीं करना है।

यह हमारा किस्सा मैंने यहाँ पर इसलिए दोहराया है कि आप समझ लें कि श्री विनोवा खादी के साथ कितने एकरूप हो गये हैं। जो निष्ठा जीवन में उतरी नहीं वैसी तत्त्वनिष्ठा केवल तात्त्विक ही समझनी चाहिये।

आज विनोबाजी ने ग्रामाभिमुख खादी का आदर्श देश के सामने रखा है। शहर के लोग खादी कम पहनें या अधिक (आजकल तो खादी का प्रचार शहर में विलकुल ही बढ़ नहीं रहा है।) शहरों का जीवन खादी-जीवन के विरुद्ध ही है। खादी पहन कर शहर के लोग गाँवों को जिलाने का पुण्य हासिल कर सकते हैं। लेकिन शहरों का जीवन खादी-संस्कृति को वढ़ावा नहीं दे रहा है। शहर के लोग 'खादी पहन कर और खादी को वढ़ावा दे कर अपना पाप कुछ हद तक धो डालें, इतनी ही अपेक्षा हम उनसे कर सकते हैं।

जव मैं शहरी जीवन और खादी प्रचार का चिंतन करता हूँ तव मेरा खादी पर का विश्वास कहता है कि जिस तरह अॅटमवम ने युद्ध

की विफलता ही सिद्ध की है, उसी तरह यंत्रोद्योगी बड़े-बड़े कल-कारखाने जब सारी दुनिया मे हर एक देश मे एक से फैल जायँगे तब उनकी कल-सस्कृति ही आत्मघातक साबित होगी। (जब हमारे युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा कि सचमुच कल-कारखानो का कलयुग ही कलियुग है, तब उनके खयाल मे नही आया होगा कि वे किसी दिन हमारी खादी के समर्थक होने वाले हैं।)

खादी के भविष्यकाल पर अटल विश्वास रख कर ही हम आज खादी का पुरस्कार कर सकते हैं। आजकल का अदूरदृष्टि जन-मानस खादी को सहन करता है केवल इसीलिए कि उसके द्वारा हम गाधीजी के प्रति अपनी असीम कृतज्ञता व्यक्त कर सकते हैं। जब खादी-युग के सच्चे दिन आयेंगे तब लोग दूसरी तरह से गाधीजी के प्रति कृतज्ञ होंगे कि उन्होंने हमें सत्यानाश से बचाया।

: २ :

अब हम भूदान, ग्रामदान के बारे मे सोचें। भूदान तो ग्रामदान की पूर्व तैयारी ही थी। जिस तरह ग्रामोद्योग मे खादी, वैसे ही ग्रामदान-मूलक सर्वोदयी क्राति के लिए भूदान है।

भूदान-ग्रामदान के बारे मे मैंने कुछ विशेष लिखा नही है। बात सही है। इस प्रवृत्ति के लिए मेरे समर्थन की आवश्यकता नही थी। हाँ, जब-जब मौका मिला, परदेश मे मैंने भूदान-ग्रामदान के बारे मे उत्साहपूर्वक व्याख्यान दिये हैं। पूर्व अफ्रीका मे शायद कम कहा था। इजिप्त मे, मैं समझता हूँ, मैंने सबसे पहले विस्तृत व्याख्यान दिया था। यूँ तो अमरीका मे और जापान में भी कई दफे मैंने ग्रामदान का अर्थ समझाया है और कहा है कि एक दिन आयेगा जब ग्रामदान ही कम्युनिजम का स्थान लेगा। मैं हमेशा मानता आया हूँ कि ग्रामदान का लाभ जब जनता के

अनुभव में आयेगा तब उसका प्रचार आप ही आप होने लगेगा। ग्राम-दान की बात लोगों को समझाना आसान नहीं है। लेकिन वह काम तो हो सकेगा।

असली कठिनाई है ग्रामदानी गाँव चलाने की।

ऐसे निष्ठावान् और कार्यकुशल सेवक मिलने चहिए जो एक-एक गाँव को अपनाकर ग्रामदानरूपी सामाजिक क्रांति को सिद्ध कर सकेंगे। मेरा दृढ़ अभिप्राय है कि ग्रामदान को चलाने के लिए सरकार की अनु-कूलता भले ही जरूरी हो, किन्तु सरकार के जरिये ग्रामदान कभी भी सफल नहीं हो सकेगा। सरकाररूपी संस्था ही जनता को कमोवेश निष्क्रिय बनाती है। "हमें वोट दो, टैक्स दो, बाकी का हम सब देख लेंगे," यही वृत्ति होती है आजकल की सरकारों की।

और हम तो सोश्यालिजम के नाम पर जनता का सारा जीवन ही सरकार के हाथ में सौंप देते हैं। सर्वोदय रूपी पब्लिक सेक्टर में सरकार की और उसके कानूनों की दखलगीरी होनी नहीं चाहिए। पब्लिक सेक्टर के मानी ही हैं जनता का क्षेत्र। सरकारी तन्त्र को ही हम पब्लिक सेक्टर कह कर विचार-भ्रांति पैदा कर रहे हैं। सब काम अगर सरकार अपने हाथों में ले ले तो उसे हम सरकारी सेक्टर अथवा गवर्नमेन्ट सेक्टर कह सकते हैं। पब्लिक सैक्टर का संचालन सार्वजनिक संस्थाओं के हाथ में ही होना चाहिए, न कि सरकार के। सर्वोदय को, ग्रामदान, जिलादान और राज्यदान को आप 'बिन सरकारी सार्वजनिक सोश्यालिजम' कह सकते हैं। ग्रामदान इसकी पूर्व-तैयारी है।

: ३ :

अब मैं तीसरे कार्यक्रम पर आता हूँ जिसको गांधीजी ने नाम दिया '...सेना' का। मुझे लगता है कि गांधीजी का विचार और भी ...ने के लिए वह नाम बदलना होगा—'अहिंसक शान्तिसेना।'

सुनता हूँ कि अमरीका मे एक ऐसे शान्तिसैनिक भी हैं जो कोशिश करते हैं, अपने देश में और दुनिया मे भी शान्ति की रक्षा हो, जान-माल सुरक्षित रहे और कोई किसी को परेशान न करे। लेकिन ऐसे लोग स्वयं शस्त्र धारण करके भी शान्ति की रक्षा करने की बात करते हैं। गाधीजी की शान्तिसेना स्वयं शस्त्र-ग्रहण नही करेगी। सशस्त्र फौज का सामना करना पड़े तो भी शस्त्र धारण किये विना, हिंसा का प्रयोग किये विना, केवल सत्याग्रह से शान्ति-सैनिक सामना करेंगे। और उनका विश्वास रहता है कि उसमे उनको सफलता अवश्य मिलेगी ही। जिस शान्तिसेना की हम यहाँ बात करते हैं वह किसी भी हालत में हिंसा के शस्त्र का उपयोग नही करेगी

ऐसी शान्तिसेना को उतना ही तालीमबद्ध होना चाहिये, जितनी शस्त्रसेना होती है। लेकिन उसकी तैयारी ही अलग किस्म के शस्त्रास्त्र की होगी। आजकल की फौजो के लिए शस्त्र तैयार करके देना बडा खर्चे का और विशाल आयोजन का काम होता है। और फौज के लोगो को अच्छी तनख्वाह भी देनी पड़ती है। रहने के लिए मकान, पहनने के लिए उमदा पोशाक देने की जरूरत रहती है। और आजकल की फौज की सधाई (ट्रेनिंग) भी कम खर्चे की नही होती। यह हो गया फौज के मामूली जवानों का खर्चा। लश्कर के अफसरों की सधाई का तो पूछना ही क्या ? वर्षों तक वह चलती है। देश की रक्षा के लिए आजकल इतनी बड़ी फौजें रखी जाती हैं कि पुराने लोग ख्वाब में भी इतनी बडी संख्या का ख्याल नही कर सकते।

यह सारा खर्च आज की सरकारें बडी खुशी से करती हैं। केवल भारत की बात नही करता। सारी दुनिया की सरकारें फौज के पीछे अपनी नित्य बढती हुई आमदनी का एकतिहाई अथवा ज्यादा खर्चा तो करती ही हैं। यह सब देखादेखी इतना बढ रहा है कि कोई उसके बारे में शिकायत करने का सोचता ही नहीं।

[illegible] से आकर [illegible] अनुशासन नहीं [illegible] कि [illegible] सुरक्षित है। इसीलिए हमारे देश में नेशनल [illegible] अथवा 'नेशनल कैडेट कोर' से ऐसी योजना चल रही है। जर्मनी में ऐसी 'राष्ट्रीय समाजवादी फौज' [illegible] देश के [illegible] शामिल होते हैं और प्रशिक्षण लेते हैं। हमारे देश में N. C. C. की योजना विद्यार्थियों में काफी लोकप्रिय नहीं हो रही है ऐसी शिकायतें भी सुनने को मिलती है।

ऐसी दुनिया में हम शान्ति-सेना की बातें करने निकले हैं। व्यवहार-चतुर और जिम्मेदारी पहचाननेवाला वही आदमी गिना जाता है जो एक वाक्य में गांधीजी की शान्तिसेना की कल्पना को अव्यवहार्य कह करके उड़ा देता है।

जो लोग गांधीजी के प्रति इससे अधिक वफादार हैं वे शान्तिसेना का नाम लेते हैं, प्रयोग भी करते हैं और मानते हैं कि हमने बहुत कुछ किया। आज गांधीजी होते तो कहते कि 'तुम्हें जो ठीक लगे, करते जाओ। लेकिन मेरी शान्तिसेना की कल्पना कुछ अलग ही थी। उसका तो आज खिलवाड़ हो रहा है।'

एक दूसरे संदर्भ में जब गांधीजी फौज के लिए रंगरूट—भर्ती करते थे तब उन्होंने माँगा था "मुझे हरएक गाँव से कम-से-कम बीस आदमी चाहिये।" पूरे आत्मविश्वास के साथ उन्होंने अपनी गुजरात में इसका प्रारम्भ भी किया था। लेकिन उनका जमाना अलग था। गांधीजी के सामने काम भी अलग थे। गांधीजी ने शान्तिसेना के संगठन का कार्यक्रम अपने साथियों के सामने तीन दफे रखा। तीन दफे उन्होंने देखा क जहाँ साथी भी उत्साह नहीं बता रहे हैं, शान्तिसेना के प्रारम्भ का हूर्त नहीं आया।

जब गांधीजी स्वराज्य की साधना कर रहे थे तब अंग्रेजों का राज्य था। अंग्रेज देश की रक्षा के लिए बड़ी फौज रखते थे। उनकी राज्य-पद्धति बरदाश्त किये बिना हमारे लिए कोई चारा न था। गांधीजी के पुण्यप्रताप से स्वराज्य तो हो गया, अंग्रेज यहाँ से चले गये लेकिन हम उन्हीं की राज्यपद्धति केवल बरदाश्त ही नहीं कर रहे हैं, पसंद करके उन्हीं की नौकरशाही के द्वारा स्वराज्य चला कर भी अपने को राष्ट्र-भक्त और गांधीवादी कहने लगे हैं। बीस वर्ष हुए, अपनी सारी शक्ति लगा कर हम गांधीजी के रास्ते से दूर दूर जा रहे हैं। और फिर भी गांधीजी का नाम लेते हैं और उनकी जन्म-शताब्दी का उत्सव करने में करोड़ों को खींच रहे हैं।

मैं किसी के खिलाफ शिकायत नहीं कर रहा हूँ। गांधीजी स्वयं देख चुके थे कि स्वराज्य को तो हम पा चुके, इस अर्थ में कि अंग्रेजों का राज्य यहाँ से हट गया लेकिन जैसा हिंदस्वराज वे चाहते थे उसकी स्थापना तो कोसों दूर है।

मुझे यहाँ पर एक महत्त्व की चेतावनी देनी है।

मैंने कहा कि दूसरे देशों में शायद डिक्टेटरशिप आ सकती है। भारत में कभी भी नहीं आयेगी। न भारत की जनता एक-जिनसी है, न यहाँ की फौज भी एक-जिनसी है। अगर किसी ने 'गणतन्त्र-डिक्टेटर' बनने का प्रयत्न किया तो उसके विरोध में दो चार हरीफ तुरन्त खड़े होंगे। और उनके पीछे भी फौज का और लोकमत का कमोबेश बल रहेगा जिससे या तो वे आपस में लड़ मरेंगे या समझौता करके देश के टुकड़े कर बैठेंगे।

और अगर देश के टुकड़े हुए तो देश के राज्याधिकार फौज के हाथ में गये बिना नहीं रहेंगे। यह सब अगर हम टालना चाहते हैं तो देश के चारित्र्य पर आधार रखने वाली एक बड़ी शान्तिसेना अभी हमें संगठित करनी होगी।

यह कोई आदर्श गांधीवाद की बात नहीं है। जो संकट नजर के सामने खड़ा हुआ है और बढ़ रहा है उसी के इलाज के तौर पर शान्तिसेना का संगठन किये बिना चारा ही नहीं।

और विनोबाजी का ग्रामदान अगर सफलतापूर्वक चलाना हो और देश में लोकनीति की प्रधानता सिद्ध करनी हो तो आज से हमें अपनी सारी शक्ति शान्तिसेना के संगठन में और उसकी सधाई (प्रशिक्षण) में लगानी चाहिये।

मैं नहीं मानता कि इस विचार को लोगों के मनपर ठसाने के लिए विशेष विवेचन की जरूरत है। सयाना मरीज अपनी दवा तुरन्त पहचान लेता है और उसके लेने में देरी नहीं करता।

११ सितम्बर १९६७

श्री रविशंकर महाराज

[१]

श्री रविशंकर व्यासजी से जब मैं पहली बार ही मिला तब उनका निवास, उनका कम्बल और उनका बैठने का ढग देखकर मेरे मन पर ऐसी छाप पड़ी कि 'यह कोई देहाती अनपढ कार्यकर्ता है।' मुझसे किसी ने उनका परिचय कराया नहीं था। एक दृष्टि से वह अच्छा ही हुआ। दूसरे ही क्षण मैंने देखा कि यह देहाती तन्दुरुस्त है और मन-दुरुस्त भी है! उनमे असाधारण नम्रता दिखाई देती थी। लेकिन इस नम्रता के पीछे अपने खुद के बारे मे विश्वास का अभाव जरा भी दिखाई नहीं देता था।

उनके साथ बातें शुरू हुईं और मैंने देखा कि निरी जिज्ञासा से जो सवाल पूछते थे उनके पीछे खासी मस्कारिता है और ग्राम लोगों मे होती है उससे कहीं बढकर उपयुक्त और विपुल जानकारी वे रखते हैं। आर्य
ऽ तो तुरन्त दिखाई देते थे। लेकिन कई आर्य समाजियो
'समाजीपन' होता है, उससे वे मुक्त थे। मैंने
को चिपक कर रहे हुए लोग जब आर्य
े हैं कि वेद का अर्थ करते वक्त
ु मानते हैं। लेकिन अध

अनुयायिता और कट्टरपन दोनों का एक ही नमूना होता है। एक आंख मूंद कर 'धर्मसिंधु' या रूढ़ि-स्मृति को मानता है तो दूसरा उसी तरह 'सत्यार्थ-प्रकाश' को मानता है। लेकिन अंध अनुसरण में दोनों एक सरीखे ही सनातनी होते हैं। यह सनातनीपन आप में दिखाई नहीं देता। आप बिल्कुल ताजे लगते हैं।"

इस तरह रविशंकर महाराज की आवश्यक खोज मैंने अपने लिए स्वयं ही की। इस बात को आज पच्चीस वर्ष से ज्यादा समय हुआ होगा। इतने बरसों में अनेक बार, अनेक प्रसंगवश रविशंकर महाराज के परिचय का लाभ मुझे मिला है। मैं देखता हूं कि बुद्धि की, हृदय की और जीवन-दृष्टि की उनकी ताजगी पहले के जैसी ही रही है, इतना ही नहीं बल्कि कुछ बढ़ गयी है। निःस्पृह रह कर भी सभों के साथ समभाव और मिठास से बरतने की कला में तो गांधीजी के बाद उनका ही स्थान है। घंटों तक आप उनसे बातें कीजिये और वर्षों तक उनके काम का निरीक्षण कीजिये, उनके मन में किसी के प्रति कटुता या शत्रुता दिखाई नहीं देगी।

जब जब मैंने इसका कारण खोजा है, तब तब मुझे तो इस सफलता के मूल में उन की निर्लोभता, अपरिग्रह और अनासक्ति दिखाई दी है। और लोगों को आश्चर्य होगा, लेकिन मुझे तो लगता है कि उनकी मिठास के पीछे उनका सादा, कष्टसहिष्णु, सहनशील जीवन ही है। जिन लोगों की सहनशीलता जबरदस्ती से साध्य की हुई चीज होती है और जिनको वह ठीक हजम नहीं हुई होती, ऐसे लोग तो खुद की कदर करने के हेतु से भी दूसरे शिथिल लोगों के साथ सख्ती से पेश आते हैं। लेकिन जिन्होंने शीतल त्याग साध्य किया है, नीरस काम करने में भी जिन को आनन्द-रस का लाभ होता है, और परिश्रमी जीवन जिन को कष्टमय नहीं लगता, ऐसे लोग ही चारित्र्य-सिद्धि के कारण, सिर्फ ऊपर

गुजरात के गांधी-युग के ऐसे अनेकानेक सेवकों में श्री रविशंकर महाराज का स्थान बिलकुल अलग ही है। सेवाधर्म के वे प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। विचारकों में उनका स्थान किसी से भी कम नही है। नम्रता और तेजस्विता दोनों सद्गुण इनके चारित्र्य में एकसाथ रहते है। कष्ट सहन करने में और जोखिम उठाने में, मैं नही समझता हूँ, इनके तुल्य और किसी को मैंने देखा है।

आश्चर्य की बात यह है कि बम्बई राज्य के बाहर अपने देश मे इन्हे बहुत कम लोग जानते हैं। लेकिन चीन देश ने इन्हे अपने यहाँ मेहमान के तौर पर बुलाया और अपना कार्य इन्हे दिखाने में परम सन्तोष माना।

रविशंकर महाराज अंग्रेजी नही जानते है। किन्तु अंग्रेजी जानने वाले लोगों से भी ये दुनिया को अधिक अच्छी तरह पहचानते है।

रविशंकर महाराज का सारा जीवन-कार्य गांधीजी, श्री अब्बास तैयबजी और सरदार वल्लभभाई के नेतृत्व मे सत्याग्रह मे शरीक होने में और बाकी का समय जरायम-पेशा तूफानी लोगो की सेवा करके उन का जीवनपरिवर्तन कराने मे गया है।

अब वे बूढे हो गये हैं। शरीर का स्वास्थ्य पहले के जैसा नही रहा है। तो भी भूदान के काम मे और खास करके शान्ति-सेना के सगठन मे लगे हुए हैं।

गुजराती मे इनके जीवन-चरित्र कई लिखे गये हैं। हिन्दी मे उनका जीवन-चरित्र अखिल भारत सर्व सेवा संघ (राजघाट, काशी) ने 'गुजरात के महाराज' नाम से प्रकाशित किया है।

जब कभी गुजरात में सत्याग्रह करने का या सरकार का विरोध करने का कार्यक्रम गांधीजी सोचते थे तब वे अक्सर रविशंकर महाराज

चरित्र को विश्वसाहित्य में अवश्यमेव स्थान मिलेगा। मेरी सिफारिश है कि हिन्दी पढनेवाले लोग भारत के एक लोकोत्तर सेवक का जीवन-चरित्र अवश्य पढ़ें और साहित्य अकादमी से मेरा अनुरोध है कि इस किताब का भारत की सभी भाषाओं मे अनुवाद करवायें और अंग्रेजी मे भी ताकि बाहर की दुनिया भी इस चरित्र को पढकर पावन हो जाय।

१४-७-१९५९

शिक्षा-दीक्षा का भार तो अपने पर ले लिया, लेकिन देखते-देखते किसी जैन साधु के जैसे रहने लगे। एक दफा उन्होने आश्रम मे रह कर उनचास दिनों का उपवास किया। फिर तो खान-पान के कड़क नियम बनाये। वाहन में नहीं बैठना, पैदल ही मुसाफिरी करना इत्यादि। आध्यात्मिक खोज के लिए आश्रम छोड़ कर चले गये। ऐसी खोज के दिनों का वृत्तान्त अद्भुत और रोमाचकारी है। किसी समय लोहे की पट्टी की लगोटी पहनते थे, किसी समय पीतल के तार से दोनो होठ सी दिये ताकि मौन का भंग न हो। आटे का पानी एक नली के द्वारा पीकर गुजारा करते थे। आबू के पहाड मे और जगलो मे बहुत घूमे। घूमते-घूमते सौराष्ट्र की ओर गये होंगे। वहाँ महात्माजी के साथ अकस्मात् मुलाकात हुई। उन दिनों शायद मुँह सिया हुआ नही था। नीम के पत्ते और कच्चा अनाज खाकर रहते थे। गाधीजी से मिलने के बाद वर्धा आने का निश्चय किया। सौराष्ट्र से वर्धा तक पैदल ही आये।

वर्धा मे गांधीजी मगनवाडी मे रहते थे। वहाँ आकर भनसाली-भाई गाधीजी के साथ रहने लगे। तब के दो किस्से इस लेख मे देने हैं। उस के बाद जब गाधीजी ने अंग्रेजो को हिन्द से चले जाने की नोटिस दी और भारतव्यापी आंदोलन चलाया तब भनसालीभाई कई दफा जेल मे गये, कई दफा उन्होंने उपवास किया। स्त्री जाति पर होते अत्याचारों से क्षुब्ध होकर उन्होंने जो उपवास किया उसका सारा इतिहास भारत के सब अखबारो मे प्रकाशित हो चुका है। और तबसे सब लोग भनसालीभाई को योगी भनसालीभाई के नाम से पुकारते हैं। अपने शरीर पर उनका काबू अद्भुत है। चाहे जितने उपवास करने के बाद भी बडी-बड़ी पैदल मुसाफिरी कर सकते है। खाने की और न खाने की उन की शक्ति देखकर बड़े-बडे डॉक्टर भी चकित हो जाते हैं।

आजकल वे नागपुर की ओर टाकली नाम के स्थान पर एक आश्रम चला रहे हैं।

मगनवाड़ी में गांधीजी के साथ रहते हुए एक दफे भनसालीभाई बीमार हुए। गांधीजी ने कहा कि अब आप को कच्चा अनाज खाना छोड़कर रोटी और दूध लेना चाहिये। भनसालीभाई ने कहा, 'यह तो मेरे व्रत के खिलाफ होगा।' गांधीजी ने कहा कि व्रत का भंग करने की सलाह तो मैं नहीं दे सकता। लेकिन कुछ रास्ता निकालेंगे।

गांधीजी ने गेहूँ का आटा पानी में गूँधकर कुछ समय तक रखा। बाद में सुपारी के जैसी उस की गोलियाँ बनाकर चक्की-बेलन की मदद से जैसे रोटी बेली जाती है वैसे उसकी पतली-से-पतली कच्ची रोटियाँ बनाई और कड़ी धूप में चार-चार छः-छः घण्टे तक रखने से ये चक्की रोटियाँपापड़ के जैसी बन गई। भनसालीभाई को गांधीजी ने ऐसी आतप-रोटियों पर रखा। इस आहार का अच्छा असर हुआ। और भनसालीभाई तगड़े हो गये।

अपने साथियों के या अनुयायियों के व्रतों की रक्षा करते हुए उन की परिचर्या करने के ऐसे तरीके गांधीजी के अलौकिक प्रेम को ही सूझ सकते थे।

दूसरा किस्सा कुछ और ढंग का है।

गांधीजी ने भनसालीभई को बहुत ही प्रेम से सुझाया कि अब कुछ नियमित ढंग से सूत कातना अच्छा है। भनसालीभाई ने इस का इनकार किया। कहने लगे कि साधनामय जीवन में यह बात नहीं बैठती। मैं चरखा नहीं चलाऊँगा। सूत नहीं कातूँगा।

गांधीजी ने उन से ठीक-ठीक दलीलें कीं। लेकिन भनसालीभाई पर कोई असर न हुआ। गांधीजी काफी दुःखी हुए, किन्तु किसी पर जबरदस्ती करना गांधीजी के अपने स्वभाव और सिद्धान्त दोनों के विरुद्ध था।

हैं। योरप से आये हुए गोरे लोग सारी जमीन के मालिक बन बैठे हैं। वे अपनी सहूलियत के लिए आफ्रिका से वहाँ के काले लोगों को गुलाम बनाकर ले आये। इन गुलामों ने कल्पनातीत कष्ट सहन किये और अब उन्हें आजादी के साथ नागरिकता के अधिकार भी मिल चुके हैं। किन्तु गोरों के समाज में ये काले लोग एक ही देश के नागरिक होते हुए भी घुलमिल नहीं सके। इन नीग्रो लोगों की उन्नति तो ठीक-ठीक हो रही है। शिक्षा, तिजारत, उद्योग-हुनर, सरकारी नौकरी और मिल-मज़दूरी इन सब क्षेत्रों में वे दृढ़ता के साथ आगे बढ़ रहे हैं। लेकिन सामाजिक जीवन में इन्हें अभी भी अलग रखा जाता है। और इनकी स्थिति भी अपमानजनक है। अमेरिका (युनाइटेड स्टेट्स) के उत्तर विभाग में नीग्रो लोगों की संख्या कम है। इसीलिए शायद उनकी स्थिति वहाँ अच्छी है। दक्षिणी-राज्यों में ईख आदि की खेती के कारण मज़दूरी के लिए नीग्रो गुलामों की सहायता लेने के कारण उनकी संख्या ज्यादा है और वहीं पर इनको अछूतों के जैसा रखा जाता है। गोरों के होटलों में इन्हें प्रवेश नहीं है। स्कूलों में इन्हें अलग रखा जाता है, यानी गोरों के स्कूलों में काले लड़कों को प्रवेश नहीं है। शहर में बस में बैठकर दूर-दूर तक जाने की आवश्यकता रहती है। इसमें रिवाज ऐसा है कि बसमें गोरे लोग आगे बैठते हैं और काले लोगों को पीछे बैठना पड़ता है। कोई गोरा उतारू आनेपर काले उतारू को अपना स्थान छोड़ कर गोरे को वह जगह देनी पड़ती है। इस तरह कदम-कदम पर उनका अपमान होता है। 'कू क्लक्स क्लॅन' नामक गोरों का एक भूमिगत संगठन है, जो लोग धाक-धमकी देकर कालों को दबाते हैं, तरह-तरह के अत्याचार करते हैं और कायदे का एवं नागरिकता का अपमान करते हैं। भले-भले प्रतिष्ठित सज्जनों को भी 'कू क्लक्स क्लॅन' से डरना पड़ता है। इनके खिलाफ कोई हिम्मत करे तो उसके लिए जान का खतरा रहता है। कल-कारखानों में जब अच्छे दिन आते हैं, माल बढ़ाने की जरूरत रहती है, तब नीग्रो लोगों को

मेहमान भी रहा और मैंने उन्हें और उनकी धर्मपत्नी को भारत आने का अनुरोध भी किया। रेवरंड किंग से मैंने कहा कि आप भारत में घूमकर हमारे गुण-दोष दोनों देखिये। सत्याग्रह आन्दोलन के पहले समाज में कई बुराइयाँ थीं। गांधीजी के प्रयत्न के कारण और स्वराज्य-प्राप्ति के हेतु सारा राष्ट्र बहुत कुछ ऊँचा उठा। हिंसा का आश्रय लिये बिना हम आजाद हो गये। आजादी हासिल होते ही एक तरह की कृतार्थता, अलबुद्धि लोगों में आ गई है। नई आजादी के नये अधिकारों की लालसा भी लोगों में पैदा हुई है। पुरानी कई कमजोरियाँ अब खुली हो गईं। यह सब भी देखना चाहिये और ऐसी परिस्थिति में शान्तताप्रेमी, अहिंसा-मार्गी भारत-हृदय कैसा काम कर रहा है यही आपको देखना है।

मोंटगोमरी में गोरों की बसों के बहिष्कार का आन्दोलन इनके नेतृत्व में ३८१ दिन तक कैसा चला और उसके द्वारा नीग्रो जाति की तेजस्विता, उनका आत्मविश्वास कैसे बढे इसका इतिहास जानने लायक है।

१० फरवरी १९५९

विश्वास तो तुरन्त बैठता है, लेकिन अनुभव उलटा होने से श्रद्धा डिगने लगती है। और मन कहने लगता है कि यह सारा उपदेश व्यक्ति-व्यक्ति के संबंध में ठीक है लेकिन एक जमात का दूसरी जमात के साथ संघर्ष होता है, जाति-जाति के बीच वैमनस्य बढ़ता है, दो राष्ट्र के बीच दुश्मनी पैदा होती है, तब ये सारे नीतिनियम काम नहीं आते। वहां तो जंगल का कानून ही सही मालूम होता है।" प्रथम ईसा मसीह जैसे नबियों के वचनों पर विश्वास रखना, अध्यात्मशास्त्र का श्रद्धा से स्वीकार करना, और बाद में इस नतीजे पर आना कि संतवचन सार्वभौम नहीं हैं, मनुष्य की निष्ठा को ठेस पहुँचाता है, आस्तिकता अपमानित होती है, श्रद्धामय जीवन टूट जाता है और मनुष्य अस्वस्थ होता है।

अमेरिका के नीग्रो लोगों के एक धर्मोपदेशक नेता की हालत ऐसी ही हुई। सच्चा आस्तिक होने के कारण उसकी अस्वस्थता बढ़ गई। ऐसी हालत में उसने गांधीजी का नाम सुना। उनकी सत्याग्रह-मीमांसा उसने पढ़ी। गांधीजी ने हिन्दुस्तान में सत्य के और सत्याग्रह के जो प्रयोग चलाये उसकी जानकारी उसने हासिल की और उसने देखा कि ईसा मसीह की नसीहत सचमुच सार्वभौम है। गांधीजी ही सच्चे ईसाई हैं, हालांकि उन्होंने उस धर्म की दीक्षा नहीं ली है। ईसा मसीह के उपदेश का यह नया अर्थ, यह नया स्वरूप गांधीजी से प्राप्त करते ही इस नवयुवक में नया चैतन्य प्रगट हुआ और उसने अपनी जाति को इस नये रास्ते ले जाने का निश्चय किया और दो-तीन साल की कठिन तपश्चर्या के अंत में उसे सफलता मिली और सारे अमेरिका का और दुनिया का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। नीग्रो जाति के इस अमेरिकन नेता का नाम है रेवरंड डॉ० मार्टिन ल्यूथर किंग।

जब मैं नीग्रो सवाल समझने के लिए अमेरिका में घूम रहा था तब मैंने मौंटगोमरी जाकर रेवरंड किंग की मुलाकात ली। दो दिन उनका

युग-परिवर्तनकारी बलिदान

जिस आदमी का जीना किसी को असह्य होता है उसे मार डालने का रिवाज प्राचीनकाल से पाया जाता है। यहाँ तक कि भाई भी भाई को मार डालता है। बाईबल के एबल और केन का उदाहरण बन्धु-हत्या के लिए हमेशा लिया जाता है। (कहते हैं कि बन्धुहत्या भी हो सकती है ऐसी कठोरता का प्रथम आविष्कार और प्रयोग केन ने अपने छोटे भाई एबल को मार करके किया। इसलिए दुनिया में जब कोई अपने भाई को मार डालता है तब उसके पाप का थोड़ा हिस्सा रॉयल्टीके तौर पर केन को मिलता है! क्योंकि इस घृणास्पद पाप का पहला आविष्कार केन ने किया!)

दुनिया में राज्य-लोभ से लड़के पिता का खून करते हैं। सामाजिक शर्म से बचने के लिए अविवाहित माँ अपने बच्चे का खून करती है। दुनिया में खून के असंख्य प्रकार हैं। समाजद्रोही नीच आदमी का खून करनेवाले की तारीफ होती है। देश के शत्रु को मारनेवाले का उत्सव करना राष्ट्र अपना धर्म समझता है। हरएक खून में एक मानव-हत्या होती है। लेकिन सब खूनों की कीमत या निंदनीयता एक-सी नहीं होती। खराब खूनों के प्रति भी घृणा की कम या अधिक मात्रा होती ही है। यह हो गया सामाजिक घृणा का हिसाब। खून के हेतु की तुलना करके उसकी निंदनीयता की मात्रा तय की जाती है। जिसका खून होता है उसका राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक माहात्म्य देखकर भी खून की निंदनीयता कम या ज्यादा बतायी जाती है। आत्मरक्षा के

हमारे देश मे बलिदान की परंपरा कम नहीं है। किन्तु हमारे पुराणों ने उनका अन्वयार्थ जिस ढग से लगाया है उसके कारण बलिदान का असर दूसरे ढंग मे होने लगा। उस की चर्चा यहां नही करेंगे। प्रह्लाद के बलिदान का असर वैष्णव धर्म के विस्तार मे पाया जाता है। हरिश्चन्द्र के अथवा शिबि राजा के बलिदान का असर भी हम देख सकते हैं। सिख लोगो के गुरुओं ने जो पवित्रतम बलिदान दिया उसका अद्भुत असर हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। गुरुओ के नामपर शिष्यो का एक सम्प्रदाय बन गया, यह एक अद्भुत ऐतिहासिक घटना है इसकी कदर किये बिना चारा ही नही। किन्तु शिष्यों का सम्प्रदाय बन जाना यह बलिदान का सबसे ऊँचा फल मानने की जरूरत नही। बलिदान के द्वारा समाज का, मानव समस्त का चारित्र्य बढना चाहिये।

एक बाजू बलिदान के लिए तैयार ऐसे महात्माओं की सख्या बढनी चाहिये तथा दूसरी ओर समाज मे इतनी विचार-शुद्धि और हृदय-शुद्धि होनी चाहिये कि बलिदान देने के मौके ही कम हों।

नौकरी-पेशा के तौर पर नहीं, किन्तु अपने देश की रक्षा के हेतु स्वेच्छा से जो लोग सैन्य मे भर्ती होते हैं और युद्ध मे बडी बहादुरी से अपना बलिदान देते हैं उनके बलिदान का असर राष्ट्र के चारित्र्य पर होता ही है। लेकिन वह असर भी अलग है। क्योकि वे सैनिक मारने को भी तैयार रहते हैं और मरने को भी।

लेकिन जो लोग आत्मा का कमोबेश साक्षात्कार होने के कारण किसी की भी हिंसा नही करेंगे, मन से या दिल से किसी का बुरा नही चाहते, ऐसे आत्मवीरों के बलिदान की कोटि ही अलग होती है। और उसका असर भी अलग ढग का, गहरा और दीर्घव्यापी होता है।

बलिदान की दृष्टि से साक्रेटिस का बलिदान ईसा के बलिदान से कम महत्त्व का नही था। गाधीजी ने सुक्रात को जो नाम दिया 'आत्म-

उसका नाप निकालना आसान नहीं है। कभी-कभी ऐसे बलिदान का भला-बुरा असर फौरन दुनिया में देखा जाता है। कई किस्सों में यह असर पूरा प्रकट भी नहीं होता, किन्तु होता है जरूर। अनुभव यह कहता है कि ऐसे बलिदान असर का महत्त्व ही मन में अंकित होता है।

ग्रीस के (यूनान के) महात्माओं के पितामह साक्रेटिस को एथेन्स के लोगों ने मृत्यु का दंड दिया। और फिलिस्तान के एक धर्ममूर्ति, श्रद्धा-भक्ति-मूर्ति यहूदी को उन्हीं लोगों ने राज्यकर्ता की मदद से क्रूस पर चढ़ाया। दोनों पूर्णतया निर्दोष थे, मानवजाति की उत्तमोत्तम सेवा करते थे। निर्भयता से दोनों ने मृत्युदंड का स्वीकार किया और अपनी पवित्रता को तनिक भी आँच आने नहीं दी। दोनों के बलिदानों को मानवजाति आज तक याद करती है। लेकिन दोनों के बलिदान का असर अलग-अलग है। साक्रेटिस को एक निष्पाप आत्मा के तौर पर लोग याद करते हैं। लेकिन उनके पीछे कोई धर्म या पंथ खड़ा नहीं हुआ। केवल उन्हीं के जैसे सत्य के लिए बलिदान देनेवाले प्रभावी लोगों की एक परंपरा दुनिया में पायी जाती है सही। उनके बलिदान की केवल कदर ही नहीं होती, मनुष्य-जाति के सर्वमान्य नैतिक आदर्शों में सुधार होता है। और यही है बलिदान का सच्चा सामर्थ्य और माहात्म्य।

ईसा के बलिदान के पीछे एक पंथ की स्थापना हुई, जिसका प्रभाव सारी दुनिया पर हुआ और हो रहा है। प्रचार बढ़ता है धर्म-संस्था के संगठन-कौशल्य के कारण। और प्रभाव बढ़ता है बलिदान के आंतरिक बल के कारण। साक्रेटिस के बलिदान का किसी धर्मसंस्था के द्वारा प्रचार नहीं हुआ तो भी क्या? बलिदान का प्रभाव तो देखा जाता ही है। कभी-कभी प्रचार के कारण प्रभाव बढ़ता है और कभी-कभी घटता भी है। इसकी जाँच करना समाज-शास्त्रियों का काम है।

[illegible] (Mystic) [illegible] इसलिए उनका कोई पंथ न बना। ईसा के [illegible] [illegible] मेरा अभेद है।] [illegible] ईसा के पीछे एक संप्रदाय की स्थापना हुई और [illegible] किया। [illegible] सॉक्रेटिस और ईसा दोनों को [illegible] और दोनों में तुलना करने से इनकार करेगा।

हमारे जमाने में एक अलौकिक अहिंसामूर्ति का प्रत्यक्ष दर्शन करने का हम लोगों को असाधारण भाग्य प्राप्त हुआ। उनके असर के नीचे आये हुए अहिंसा-भक्तों की संख्या कम नहीं है। गांधीजी के पीछे चलने वाले जीवनसाधक अनेकानेक हैं। आज उनको कोई 'अपोस्टल' नहीं कहेगा। किन्तु अध्यात्मक्षेत्र में उनका स्थान अवश्य है।

लेकिन गांधीजी ने सत्य और अहिंसा की साधना के द्वारा क्षात्र-तेज को सात्त्विकतम रूप देकर सत्याग्रह का जो आविष्कार किया उस का राष्ट्रव्यापी, मानवताव्यापी मौलिक प्रयोग करनेवाला आदमी तो एक दबी हुई जाति के प्रतिनिधि के रूप में अमेरिका में ही पैदा हुआ जिसका नाम है रेवरन्ड मार्टिन ल्यूथर किंग। एक अमेरिकन नीग्रो धर्म-प्रचारक का लड़का जिसने आधुनिक शिक्षा पाकर पिता के ही व्यवसाय में प्रवेश किया, यह है उस के जीवन का व्यावहारिक पहलू। लेकिन ईश्वर की योजना ?

देखने-समझने के लिए। रास्ते में जमैका टापू में भी जो भारतीय बसे हुए हैं उनकी हालत देखने के लिए एक दिन ठहरा था। यह मुख्य काम पूरा करने के बाद मैं अमेरिका देखने के लिए फ्लारिडा द्वीपकल्प की राजधानी मायामी में हवाई जहाज से पहुँचा। मुझे युनाइटेड स्टेट्सके दक्षिणी राज्य में नीग्रो की हालत कैसी है यह प्रत्यक्ष देखकर नीग्रो सवाल का अध्ययन करना था।

मैंने अपनी हिमालय-यात्रा के पहले ही नीग्रो नेता और शिक्षाशास्त्री बुकर वाशिंग्टन का जीवनचरित्र पढ़ा था। उसके लिखे हुए अन्य ग्रन्थ और नीग्रो जाति का इतिहास भी पढ़ा था। बुकर वाशिंग्टन के शिक्षागुरु जनरल आर्मस्ट्रोंग और उनकी संस्था हम्टन इन्स्टिट्यूट के बारे में सारा पूरा साहित्य भी मैंने पढ़ा था। अमेरिका में "प्रत्यक्ष जीवन के द्वारा शिक्षा देनेवाली नयी तालीम के आविष्कर्ता और नीग्रो जाति के उद्धारकर्ता जरनल आर्मस्ट्रोंग के प्रति मेरे मनमें अत्यन्त श्रद्धा थी ही। जनरल आर्मस्ट्रोंग की हेम्टन इन्स्टिट्यूट और बुकर वाशिंग्टन की टस्कगी युनीवर्सिटी के बारे में भी मैं अच्छी जानकारी रखता था। इन सबों के बारे में मैंने लिखा भी था इसलिए मैंने अपने मेजबान नाइल्स दंपती को लिखा था कि मुझे अमेरिका में देशदर्शन के लिए घूमना नहीं है। देशदर्शन में अगर नायगरा का जल-प्रपात देख सका तो काफी है। लेकिन अमेरिका में दक्षिण से उत्तर तक घूमकर मुझे (अमेरिका के हरिजन) नीग्रो का ही सवाल समझना है। इसलिए बुकर वाशिंग्टन की टस्कगी युनिवर्सिटी भी देखूँगा और मार्टिन ल्यूथर किंग से भी मिलना है। नाइल्स दंपती ने क्वेकर लोगों की सहायता से यह सारा प्रवन्ध कर तो दिया ही, लेकिन हॅरी नाइल्स स्वयं हमारे साथ घूमे। उनके बारे में मैं इतना कहूँ तो बस है कि जब हम रेवरन्ड किंग से मिलने उनके शहर ...मरी में पहुँचे तब हॅरी नाइल्स सीधे किंग के रसोईघर में पहुँच कर ...मती कॉरिटा किंग की रसोई में मदद करने लगे। (हमारे हॅरी नाइल्स

संस्कृति के परिव्राजक श्री काका साहब

१. काका—ले० महादेवभाई देसाई

२. काका साहब—जीवन दर्शन

ले० कि० ध० मशरूवाला

पूरेपूरे पारमार्थिक ढंग से सोचते थे और जो बात जँच गयी उसे अमल में लाने की उनकी जीवन-साधना पूरी उत्कट थी।

मैं देख सका कि रेवरन्ड किंग एक सच्चे परमार्थी अध्यात्मवीर हैं। और ईश्वर की कृपा से उन्हें सहधर्मचारिणी भी अच्छी मिली है जो पूरे हृदय से सेवा के द्वारा पति को पूरापूरा साथ दे रही है। उनका संगीत का ज्ञान भी सेवा में अच्छी मदद करता था।

मैंने दोनों को भारत आने का आमंत्रण दिया। और अपने को धन्य माना कि ईसा का और गांधीजी का उपदेश अमल में लानेवाले एक तेजस्वी व्यक्ति का परिचय हुआ। वे भारत आये और दो-तीन महीने सर्वत्र घूमे। उसका असर अच्छा हुआ।

दुनिया के लोगों का तरीका है कि वे समर्थ पुरुषों का और महात्माओं का अनुसरण करने की जगह उनकी पूजा करते हैं, उनके लिये अभिमान रखते हैं और इतने में संतोष मानकर अपने सामान्य जीवन में हमेशा के जैसे डूब जाते हैं। इसलिए महात्माओं के युगकार्य को मानव-संस्कृति में दृढ़मूल होने में सैकड़ों बर्षों की अवधि लगती है। मानव-स्वभाव ग्रहणशील और उन्नतिशील है सही, किन्तु अपनी पुरानी बातें समय पर छोड़ता नहीं। इसलिए समन्वय तक पहुँचने के पहले काफी संघर्ष करना पड़ता है और बलिदान भी देना पड़ता है। ऐसे संघर्ष को कम करने का और प्रगति का वेग बढ़ाने का एकमात्र सही रास्ता है सत्याग्रह का। जिसका अंतिम रूप है बलिदान।

दुनिया ने रेवरन्ड किंग की योग्यता पहचानी। दुनिया के मनीषियों ने उनको सर्वोच्च नोबल प्राईज दिया। और मानवता में अपना स्थान न छोड़नेवाली वांशिक अहंता ने उनका बलिदान लेकर रेवरन्ड किंग को युगपुरुष की उपाधि देकर गांधीजी के समकक्ष बनाया।

हमें विश्वास है कि महात्मा गांधीजी के और रेवरन्ड किंग के बलिदान के बाद मानवजाति पहले के जैसी रह नहीं सकेगी।

१५ मई १९६८

काका

महादेव देसाई

काका के प्रति मेरी भक्ति इतनी अधिक है कि उसे व्यक्त करने में शायद मैं उन्हें संकोच में डाल दूंगा—और उनकी अनुपस्थिति में* तो यह मुझसे हरगिज न हो सकेगा। इसलिए अपनी भक्ति को थोड़ी देर के लिए एक ओर रखकर मैं कुछ लिखने की चेष्टा करूंगा।

: १ :

गांधीजी के पास मैं सन् १९१६ के नवम्बर में पहुँच गया था। तब से १९१६ तक काका के साथ मेरा परिचय लगभग हुआ हो। ... आज जितना अपने बारे में बोलते हैं, उतना उस समय ... एक दिन उन्होंने अपना 'स्वदेशी धर्म' शीर्षक मराठी ... और उनके लिए कुछ अस्वाभाविक लगनेवाली तथा दिखाई देनेवाली नम्रता के साथ उन्होंने कहा, 'पढ़ कर दे दें।' मैं लेख पढ़ गया—राय देने वाले की गम्भीरता और उनके मुंह पर स्तुति करके उन्हें संकोच में न ... उसी लेख में कागज का एक टुकड़ा रख दिया, जिस

* तब जेल में थे, जब यह लेख लिखा गया—संपादक

काका

महादेव देसाई

काका के प्रति मेरी भक्ति इतनी अधिक है कि उसे व्यक्त करने में शायद मैं उन्हें सकोच मे डाल दूँगा—और उनकी अनुपस्थिति मे* तो यह मुझ से हरगिज न हो सकेगा। इसलिए अपनी भक्ति को थोडी देर के लिए एक ओर रखकर मैं कुछ लिखने की चेष्टा करूँगा।

: १ :

गाधीजी के पास मैं सन् १९१६ के नवम्बर मे पहुँच गया था। तब से लगभग १९१९ तक काका के साथ मेरा परिचय लगभग हुआ ही नहीं था। काका आज जितना अपने बारे मे बोलते हैं, उतना उस समय नहीं बोलते थे। एक दिन उन्होने अपना 'स्वदेशी धर्म' शीर्षक मराठी लेख मुझे दिया और उनके लिए कुछ अस्वाभाविक लगनेवाली तथा अब भी उनमे दिखाई देनेवाली नम्रता के साथ उन्होने कहा, 'पढ कर आप अपनी राय दे दें।' मैं लेख पढ़ गया—राय देने वाले की गम्भीरता के साथ पढ गया और उनके मुँह पर स्तुति करके उन्हे संकोच में न डालने के इरादे से उसी लेख मे कागज का एक टुकडा रख दिया, जिस

* काका साहेब तब जेल मे थे, जब यह लेख लिखा गया—संपादक

: ३ :

बहुत बड़े आदमी की धर्म-पत्नी बनना जिनके भाग्य में लिखा हो, उनके नसीब में बहुत सुख निखा हुआ नहीं होता, ऐसा टाल्स्टाय जैसों की गृहस्थी को देखकर बार-बार कहा जाता है। काकी इस तथ्य को झूठा साबित करती हैं। जब काका ने गुजरात को चकाचौंध नहीं कर दिया था, तब की काका-काकी की बातें, हंसी-मजाक, झगड़े मैंने बहुत देखे हैं। एक बार काकी के सामने काका मुझे अपना 'समयपत्रक' बताने लगे। उसमें अमुक समय—एक घंटे से अधिक—काकी के साथ 'भाडरा' (झगड़ा) करने के लिए दर्ज था! काकी उस समय तो बिगड़ी, पर बाद में उसमें छिपे विनोद को समझ गईं। दो गुण काका और काकी में समान हैं; दोनों भक्त हैं—काका अनेक वस्तुओं के और काकी काका की। परन्तु दोनों में अपना 'स्व'त्व बनाये रखने जितनी जिद पर्याप्त मात्रा में है। आठों पहर अपने चिंतन में मग्न, अद्‌भुत एकाग्रता के साथ एक विषय में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में चले जाने वाले, जीते-जागते ज्ञान-चक्र जैसे, अनेक मित्रों के अनेक प्रश्नों के उत्तर और स्पष्टीकरण देने वाले काका को किसी त्योहार के दिन—उदाहरण के लिए नये वर्ष के दिन—उनके कमरे में जाकर देखें तो आप चकित रह जायेंगे। काकी जो कुछ करने को कहेंगी—नहाने-धोने को कहेंगी, खाने-पीने को कहेंगी, उसी प्रकार सीधी रस्सी की तरह बनकर करते जाते काका को देखकर काकी और काका दोनों के चरण छूने की इच्छा हो उठी।

: ४ :

काका की निष्ठा जितनी तिलक महाराज के प्रति है उतनी ही गांधीजी के प्रति है, जितनी काकी के प्रति है उतनी ही अपने मित्रों के प्रति है। अपनी ओर आकर्षित होने वाले अनेक मित्रों को अपने तेज से चौंधिया

गांधीजी के जेल जाने तक उन्होंने बाह्य जगत् के साथ कोई सम्पर्क स्थापित नहीं किया था—मानो उससे उन्हें कोई लेना-देना न हो। कभी कभी लेखो द्वारा चमक उठते। नागपुर कांग्रेस के समय कर्णाटक के प्रतिनिधियों के प्रश्नों क उत्तर देने के लिए लगातार सात घण्टों तक बोलते हुए और सबके मुंह बन्द करते हुए मैंने उन्हें देखा है। परन्तु गांधीजी के जेल जाने तक उन्होंने बोलने की अपनी उस शक्ति का भी सचय ही कर रखा था। गांधीजी के जेल जाने के बाद वह मानो मजबूर होकर बाहर निकल पड़े। उसके बाद गुजरात पर उनका ऐसा प्रभाव पडा, मानो विचारों का कोई ज्वालामुखी फट पडा हो। मैं जहाँ कहा गया, लोगों से ऐसी ही बातें सुनी। उस विचार-प्रवाह के साथ ही ज्वालामुखी था। स्वामी आनन्द जब बाहर थे तब उनका हुक्म पाते ही काका लेख के साथ तैयार होते। स्वामी कहते थे कि एक हुक्म की कुदाली मारी नहीं कि काका की खान में से रत्न निकल पड़ते।

६ :

मैं जब जेल से निकल कर आया तब काका मुझ से बम्बई मे मिले। कहने लगे, 'मैं आजकल अपने विचार और कार्य के बारे मे बहुत बोलने लग गया हूँ।' मैंने लखनऊ छोड़ते ही तुरन्त मुझे 'नवजीवन' की फाइल मिले ऐसा प्रबंध किया था, इसलिए पिछले वर्ष की फाइल मैंने देखी थी। काका के लेखों को देखकर लगा कि उनका कहना सही है। वह लेखों द्वारा अपने कार्य के विषय मे जितना बोल रहे हैं, उतना चार वर्ष पहले नहीं बोलते थे। फिर तो 'वसंत' देखा, 'युगधर्म' देखा, 'साबरमती', 'पुरातत्व', 'बालमित्र' देखा—जहाँ देखूँ वहाँ काका का वसंत खिला हुआ था। इसी जमाने मे उनकी पुस्तकों की फसल देखी तो उसमे भी कोई कमी नहीं थी। उपनिषत्पाठावलि, आर्यों के त्योहारों का इतिहास, जैसी चिरजीवी पुस्तकें। मुझे ऐसा लगा कि मेरे जैसे

[illegible] में क्या करें ? काका [illegible] होते तो देश का कितना लाभ होता ? और [illegible] इच्छा सफल हुई और काका जेल चले गये।

इसके पश्चात् भी मैंने देखा कि काका अपने लेखों द्वारा ही नहीं, बल्कि अपने कार्य के विषय में बोल कर भी अधिक आत्मविवरणशील बने हैं। 'क्या आपने मेरा आश्रम सम्बन्धी लेख देखा ?' 'तिलक महाराज के सम्बन्ध में मेरे लेखों के अतिरिक्त और कुछ उनमें जोड़कर एक पुस्तक के रूप में उन्हें प्रकाशित करने का मेरा इरादा है।' 'रामायण के छोटे पात्रों के विषय में लिखने को.........से कहा है।' 'मुझे यह बताना है कि समालोचना की कला भी कैसे विकसित हो सकती है।' 'दशहरे के सम्बन्ध में मैंने जो लिखा है वैसे ही लेख हमारे अन्य त्योहारों के सम्बन्ध में लिखकर मुझे एक पुस्तक प्रकाशित करनी है।' 'पुरातत्त्व-मन्दिर हिन्दुस्तान में एक आदर्श संस्था बने और स्थान-स्थान के विद्वान् हमारे यहां आ जायें, ऐसी व्यवस्था हम करें।' इस प्रकार के अपनी प्रवृत्ति का परिचय देनेवाले वाक्य उनके मुंह से हर वक्त निकलने लगे। अपने विषय में कभी न बोलने वाले काका अचानक इस प्रकार कैसे बोलने लगे, यह प्रश्न स्वाभाविक है। इसका उत्तर यही हो सकता है कि अबोलपन का उनका वह काल उनकी सगर्भावस्था का काल था और शरमीली स्त्री की तरह अपनी उस स्थिति को वह सबसे छिपाकर रखते थे। प्रसूति के बाद उनका संकोच अपने-आप चला गया, और उनके बालक जहाँ-तहाँ दिखाई देने लगे। उनकी सगर्भावस्था का काल, उनका तेजस्वी विद्यार्थी-जीवन, उनका स्वयं-सेवक काल, उनके तप, संकट, पुरश्चरण, उस अर्ध-संन्यास के बाद का फिर से संसार-सम्बन्ध, और अंत में उनका निष्काम, सक्रिय संन्यास इन सब के विषय में दूसरा कोई कहे, इससे अच्छा है कि वह स्वयं ही सब कह दें।

३

काका साहब वर्धा के पास एक छोटे गांव में जाकर बसे हैं। एक भले सज्जन ने अपने बाग में बनाया हुआ मकान काका साहब को रहने के लिए दिया है। वहां रहकर वह लिपि-समिति का और हिन्दी-प्रचार का काम चलाते हैं। फुरसत के समय वह गांव के लोगों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। गांव के बच्चों को जमा करते हैं, उन्हें कहानियां सुनाते हैं कई बार बड़े लोगों को भी समझा कर साय-कालीन प्रार्थना में बुलाते हैं। जब एक आदमी ने उनसे पूछा तो उन्होंने कहा, 'मैं आपके गांव में कोई बड़ा कार्यक्रम लेकर नहीं आया हूं। सम्भव हुआ तो मैं आपके गांव को साफ रखने में आपकी थोड़ी मदद करूंगा और आपके बच्चों को तकली पर सूत कातना सिखाऊंगा। बच्चे भले ही स्कूल में जाकर पढ़ें, मैं तो उनसे इतना ही कहूंगा कि तुम मन्दिर में आकर तकली चलाना सीखो और फिर उस पर हर रोज सूत कातो।'

उस बस्ती में उनका स्वागत अच्छा हुआ। जिस बगीचे में वह रहते हैं उसके पड़ोस में एक हरिजन है। उसने कुछ नारंगी के पेड़ लगाये हैं और झोंपड़ी बनाकर वह वहां रहता है। पहले ही दिन काका साहब ने उससे बालटी मांगी या उसके आदमियों को बगीचे के कुएं से पानी निकाल कर देने को कहा। वे लोग तो भौचक रह गये। एक ब्राह्मण हरिजन से बालटी मांगे या हरिजन को कुएं से पानी निकाल कर देने को कहे, यह उनके लिए बड़े आश्चर्य की बात थी। काका साहब ने हँस कर उनसे कहा, 'मैं तो हरिजन जैसा ही हूं। हरिजन के और अपने बीच में कोई भेद नहीं देखता।' उस आदमी को उन्होंने अपने घर में बुलाया। उस युवक को इससे बड़ा आनन्द और आश्चर्य हुआ; क्योंकि इतने अच्छे ढंग से बोलने वाला और बरताव करने वाला व्यक्ति उसे अब तक मिला नहीं था, हालांकि वह स्वयं इतना

साफ-सुथरा है कि सवर्णों से वह तनिक भी अलग नहीं लगता। उसने काका साहेब का आमन्त्रण स्वीकार किया और हर रोज शाम की प्रार्थना में वह आने लगा। फिर एक दिन वह सितार ले आया और उत्साह के साथ उसने तुकाराम के कई भजन गाये। उसने प्रश्न पूछना शुरू किया और देखा कि उसकी जिज्ञासा को तृप्त करने वाले काका साहेब जैसे अध्यापक उसे जीवन में नहीं मिले थे। वह कुछ पढा-लिखा है और अपनी जाति के अन्य लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक खुशहाल है। इसलिए वह दूसरे हरिजनों को उपदेश देता है। परन्तु अब उसे काका साहेब मिल गये हैं, इसलिए वह कहता है कि 'अब मैं कुछ समय के लिए उपदेश देना बन्द करके स्वयं सीखूंगा।' उसे कुछ थोड़ी संस्कृत आती होगी। इसलिए उसने काका साहेब से पूछा, 'क्या आप मुझे संस्कृत पढायेंगे ?' काका साहेब तो जन्मसिद्ध अध्यापक रहे। अतः मृत्यु शय्या पर पड़े हों तो भी ऐसी प्रार्थना को अस्वीकार नहीं करेंगे। उन्होंने अपनी व्यस्तता के बावजूद समय निकाल कर इस नये शिष्य को संस्कृत पढाना शुरू कर दिया है। अपने पास भरे पड़े ज्ञान-भण्डार से वह उसे ज्ञान की बातें सुनाते हैं। कुछ दिन पहले यह युवक मुझ से मिला तो खुशी से फूल कर कहने लगा, 'मैंने पिछले जन्म में बहुत पुण्य किया होगा, इसलिए मुझे काका साहेब जैसों का सत्संग मिला है।'

काका साहेब : जीवन-दर्शन

किशोरलाल घ० मशरूवाला

१९१७ के जून महीने मे मैं गाधीजी की राष्ट्रीय शाला में सम्मिलित हुआ। काका साहेब, मामा साहेब (फड़के), नरहरि भाई फूलचन्द भाई (वढवाणवाले) आदि मुझसे पहले ही उसमें शामिल हो चुके थे।

पहले दिन ही आपस मे बातचीत करते हुए मैंने देखा कि काका साहेब, मामा साहेब गुजराती मे आसानी से नही बोल पाते थे। उनके गुजराती उच्चारण से मेरा मराठी उच्चारण कही सहज था। और महाराष्ट्रीय के साथ मराठी मे बात करना मेरे लिए अधिक स्वाभाविक था। इसलिए दोनों के साथ मैंने मराठी में 'या, बसा, कसें काय' (आओ, बैठो, कैसे हो ?) शुरू कर दिया। स्वभाषा मे वार्तालाप करने मे हमेशा ज्यादा मिठास लगती है। काका साहेब, मामा साहेब को भी मेरा व्यवहार अच्छा लगा और हमारा स्नेह-सम्बन्ध तेजी से दृढ़ हो गया।

थोड़े ही समय मे मुझे मालूम पड़ गया कि अपने काम के अनुरूप ज्ञानकोष (एनसाइक्लोपीडिया) की खोज के लिए मुझे कहीं भटकने की आवश्यकता नही। काका साहेब जीतेजागते ज्ञाननिधि थे। कोष मे भी आवश्यक जानकारी का पता लगाने की जरूरत पड़ती है, जिसमें बहुत

मगजपच्ची करनी पड़ती है। जीता-जागता कोष हो तो खोजनेवाले के लिए ऐसी परेशानी की जरूरत नहीं, वहाँ तो सिर्फ पूछने भर की आवश्यकता होती है।

काका साहेब और नरहरि भाई दोनों की इतिहास-भूगोल में बहुत दिलचस्पी थी। वे योजनाएँ बनाते और चर्चा करते। उन्हें सुनते-सुनते मैं भी इन विषयों में कुछ रस लेने लगा था।

लेकिन इतिहास-भूगोल की अपेक्षा काका साहेब के प्रवास-वर्णनों में अधिक रस आता। वे मुझे सिन्दबाद की यात्राओं जैसे मजेदार लगते। उन्हीं की देखा-देखी मैं भी भारतीय कला तथा आदर्शवादी कला बनाम यथार्थवादी कला के बारे में थोड़ा-बहुत उन्हीं की तरह बोलने लगा था। परन्तु आज आत्मनिरीक्षण करने पर मुझे लगता है कि आदर्शवादी चित्रकला या शिल्पकला अथवा काव्यकला का सौंदर्य परखने की कोई कुंजी मेरे हाथ लगी हो, ऐसा मालूम नहीं पड़ता।

उस समय मैं आदर्शवादी कला का हिमायती था, क्योंकि काका साहेब उसके हिमायती थे और इस विषय में मैं उनका शागिर्द था। मगर पर कोटे पर उगी घास कितने दिन हरी रह सकती है ? इसी तरह भूगोल, इतिहास या कला ने मेरे अन्दर गहरी जड़ नहीं जमाई। मेरा आकाश-दर्शन भी इसी तरह उथला ही रहा।

उस समय मेरा और नरहरि भाई का खास उपयोग काका साहेब के मुंशी (लेखक) के रूप में ही था। मेरा ख्याल है कि उन दिनों मैं लिखने बैठता तब काका साहेब मराठी में ही बोलते थे और मैं उसे गुजराती करके गुजराती में लिखता जाता था। कई बार मैं और नरहरि भाई साथ-साथ बैठते, तब काका साहेब को मराठी शब्द का गुजराती पर्याय बताने में मैं मदद करता था और नरहरि भाई काका साहेब के

ऐसे दूर को स्पष्टतया-शुद्ध करके लिखते थे। मेरी अपनी भाषा और लेखन-शुद्धि भी लिखे उस जमाने में अपने जैसी ही थी। इसलिए मुझे सीधे दान देने का काम काका साहेब जैसों के लिए जरा भी मुश्किल नहीं था। काका साहेब जब मुझसे आगे बढ़ गए, इसका मुझे पता ही नहीं लगा।

विद्यापीठ की शुरुआत के समय काका साहेब, नरहरि भाई और मैंने खूब उत्साह से काम किया। राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचारार्थ, गुजरात और काठियावाड़ में भ्रमण भी किया। विद्यापीठ का विधान बनाते समय लगभग सभी नये शब्द काका साहेब ने ही सूझे। विधान की धारा-उपधाराओं की भाषा सुधारने में हम दोनों ने खूब परिश्रम किया। इस विधान का मसविदा जब गांधीजी के पास भेजा गया तो उन्हें बहुत पसन्द आया। लगभग उसी रूप में उन्होंने उसे मंजूर किया और राष्ट्रीय शिक्षा-मण्डल ने उसे ज्यों-का-त्यों पारित कर दिया। उसमें के कई शब्द सर्वथा नवनिर्मित थे और गुजरात के लिए नई प्राप्ति प्रतीत हुई। संयोग की बात है कि उसमें सबसे अधिक नया लगनेवाला 'महा-मात्र' शब्द सर्वप्रथम मुझ पर ही लागू किया गया।

काका साहेब की शब्द-रचना-शक्ति का विद्यापीठ की परिभाषा में पुष्कल परिचय मिलता है। 'कुमार-मंदिर', 'विनय मंदिर', 'विनीत', 'स्नातक', 'समिति', 'नियामक सभा', 'निधिपमण्डल', 'अन्वेषक', 'ध्यानमंत्र' आदि शब्द आज हमारे लिए चिरपरिचित-से लगते हैं और इनमें से कितने ही दूसरे क्षेत्रों में भी फैल गए हैं। उस समय ये सब अजीब लगते थे। विद्यापीठ का ध्यानमन्त्र (आदर्शवाक्य) 'सा विद्या या विमुक्तये' और विद्यापीठ की मुहर पर अंकित वटवृक्ष तथा कमल भी काका साहेब की ही सूझ के परिणाम हैं।

: २ :

काका साहेब और मैंने जन्म-भर धन्धा तो एक ही किया है—पढ़ने-पढ़ाने, लिखने और बोलने (भाषण) का। अन्तर केवल यह है कि उनका कारखाना ज्यादा बड़ा होने के कारण उनका माल ज्यादा सुन्दर होता है। इस प्रकार बापू ने वर्णाश्रम धर्म की जो व्यवस्था की है उसके अन्तर्गत हम दोनों का वर्ण एक ही गिना जाना चाहिए, परन्तु मुझे लगता है कि एक ही धन्धा करते रहने पर भी काका साहेब ब्राह्मण से कुछ और नहीं हुए और मैं वैश्य का वैश्य बना रहा।

परन्तु ऐसा कहने में मुझे पुराणकार की ब्राह्मण और वैश्य की व्यवस्था में थोड़ा संशोधन करना चाहिये। ब्राह्मण चाहे धन-लोलुप हो, पर वह पैसे का हिसाब-किताब ठीक नहीं रख सकता, जब कि वैश्य निर्लोभ होने पर भी हिसाब-किताब में कभी गफलत नहीं करता। इसी न्याय से वैश्य अपने ज्ञान का हिसाब नहीं रखता और ब्राह्मण की नजर उस पर से कभी हटती नहीं। वैश्य लाखों रुपयों का दान करके भी विनम्र चाहे बना रहे, पर जिसे वह दान दे वह व्यक्ति यदि दान के क्षेत्र से बाहर जाय, उसकी तरफ से जरा-सा भी कोई व्यतिक्रम हो, तो उसकी आँखें चढे बिना नहीं रह सकतीं। यह बात सभी वैश्यों पर लागू होती है, चाहे वे करोड़पति ही क्यों न हों। इस अर्थ में काका साहेब ब्राह्मण ब्राह्मण ही रहे और मैं वैश्य से कुछ अन्य नहीं बना, यह हम दोनों को कबूल करना ही चाहिए।

मनुष्य के हृदय की असलियत उसके पैर की एड़ी के पृष्ठ-भाग से जानी जा सकती है। काका साहेब के पैरों को कभी आपने गौर किया है? उनके शरीर और उन की ऊँचाई के मुकाबले वह बहुत कोमल, नाजुक और छोटे प्रतीत होते हैं, मानो वह हर-सिंगार (पारिजात) जैसे नाजुक हृदय के ही प्रतीक हैं। कहावत है कि 'सिर बड़ा सरदार

का और पैर बड़े गँवार के।' काका साहेब का सिर बड़ा है और पैर छोटे हैं।

लेकिन इन छोटे पैरों में बड़े बड़े चक्र हैं, जिससे इन पैरों को भ्रमण की खुराक ही बहुत अच्छी लगती और अनुकूल पड़ती है। 'भ्रमण करे वही ब्राह्मण' यों कहें तो इस अर्थ में काका साहेब पूरे ब्राह्मण हैं। श्री विनोबा श्रुति के इस आदेश की बारम्बार याद दिलाते हैं कि 'चलते रहो, चलते रहो'। काका साहेब इस आदेश का अक्षरशः ही नहीं, मूलतः भी पालन करते रहे हैं। गांधीजी से भी काका साहेब का भ्रमण अधिक रहा हो यह असम्भव नहीं है।

परन्तु गांधीजी और काका साहेब की आँखों की रचना अलग-अलग है, जिससे दोनों ने अपने-अपने भ्रमण में जो देश-दर्शन किया वह भिन्न-भिन्न प्रकार का और एक दूसरे के अनुभवों की पूर्ति करनेवाला है। गांधीजी के करुणामय और अर्थशोधक नेत्रों ने देखा कि हिन्दुस्तान गाँवों में बसा हुआ है, जो गन्दगी के ढेरों के बीच बने हैं और गन्दगी तथा रोगों के केन्द्र हैं। सम्पत्ति के भण्डार भी वहाँ हैं, पर उनकी सम्पत्ति खाली हो जाती है और गन्दगी तथा रोग फलते-फूलते रहते हैं। यही नहीं, बल्कि गांधीजी ने वहाँ जात-पांत, छुआछूत आदि के जहर का भी दर्शन किया और आवाज उठाई कि गाँवों को गन्दगी से मुक्त करो, उनमें मौजूद सजीव और निर्जीव सम्पत्तिवर्धक सामग्री का व्यवस्थित रूप में संयोजन करो और एकता तथा उद्योग धन्धों से उन्हें समृद्ध कर दो।

काका साहब के रसपूर्ण सौन्दर्यशोधक नेत्रों ने सर्वत्र सौन्दर्य का प्रसार देखा। वह जहाँ गए वहाँ के पर्वत देखे ; पर्वतों के हिमाच्छादित उच्च शृंग देखे ; आकाश तक पहुँचने वाले (ऊँचे-ऊँचे) वृक्ष देखे ; नदियों ... विस्तार और उनमें एकाएक आनेवाली बाढ़ों के दर्शन किये ;

: ३ :

पुरानी परम्परा में पले हुए ब्राह्मण के जीवन में बीच-बीच में सन्यास लेने के संकल्प उठते रहना कोई अनोखी बात नहीं है। काका साहेब का जिस वर्ग के ब्राह्मणों में जन्म हुआ है उसमें से निकले पवित्र और विद्वान् साधु-सन्यासियों की सख्या भारत वर्ष में बहुत अधिक है। उनमें से अधिकाश रहते दक्षिण में हैं, पर हिमालय को अपना वतन तथा सन्यास को अपना असल आश्रय-स्थान मानते हैं।

काका सा ब हिमालय का प्रवास कर आए हैं, परन्तु अभी उससे तृप्त नहीं हुए हैं। अनेक बार पुन वहाँ जाने, सन्यास ग्रहण करने, निवृत्त हो जाने तथा सब प्रवृत्तियों में से निकल जाने की मनोवृत्ति प्रकट करते हैं। इसी मनोवृत्ति के अनुरूप उन्होंने अपने बाह्य जीवन में कितने ही परिवर्तन भी कर लिये हैं। उदाहरण के लिये, उन्होंने शिखा-सूत्र को खत्म कर दिया है। आज के जमाने में चोटी और जनेऊ छोडने के लिए किसी तरह की धार्मिक वृत्ति की आवश्यकता नहीं। चुटिया तो अब बहुत करके युग से ही खत्म हो गई है। रहा जनेऊ, सो जिन्होंने स्वय जनेऊ उतार दिया है वे अपने बच्चों का यज्ञोपवीत-सस्कार क्यों कराते हैं, यह समझ में नहीं आता। लेकिन काका साहब ने जो शिखा-सूत्र छोडा, वह उनके प्रति तुच्छ भाव पैदा होने के कारण नहीं, बल्कि सन्यास की ओर जाने के कदम के रूप में उन्होंने ऐसा किया।

इस पर से यह कहा जा सकता है कि काका साहेब की जीवन-दृष्टि में सन्यास का योग महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इनके कर्मयोग और भक्तियोग के संस्कार इतने दृढ हैं कि मैं आशा रखता हूँ कि वे इनके बाल-सस्कारों को बलवान् नहीं होने देंगे। मुझे लगता है कि जिसमें अपने भूतकाल के प्रति आदर की भावना हो वह धर्मान्तर नहीं कर सकता और भविष्य की आशा [illegible] वाला सन्यासी नहीं बन सकता। वह तो भक्तियोग एव

कर्मयोग का ही अमल कर सकता है। जहां तक काका साहब की बात है, वे तो मुख्य रूप से भक्त ही हैं।

काका साहेब ने अपने को हमेशा सिपाही के रूप में ही प्रस्तुत किया है, जो भक्त शब्द का ही पर्याय है। युवावस्था के प्रारम्भ में वे श्री गंगाधरराव देशपाण्डे की सेना में शामिल हुए, यानी उनके अनुवर्ती बने। उस समय उन्होंने जो हुक्म दिया, उसका पालन किया। उसके बाद उन्हीं की आज्ञा से बडोदा के श्री केशवराव देशपाण्डे के सिपाही बने और उनके अनुवर्ती बन कर रहे। उन्होंने काका साहब को गांधीजी के सुपुर्द किया और तभी से वफादारी के साथ गांधीजी का आज्ञापालन करना इनका जीवन-धर्म बन गया है। इस काम में जो बात बाधक हो, उसका त्याग भी करना पड़ता है। भक्त का एक लक्षण ही यह है कि नारायण की शरण जाने पर माँ-बाप, सुत-दारा, कुटुम्ब सब का परित्याग करना पड़ता है। काका साहेब ने ऐसे अनेक त्याग किये हैं और जरूरत पड़ने पर और भी कर सकते हैं।

गांधीजी के प्रति काका साहेब की भक्ति विलक्षण है। कोई उन्हें गांधीजी का अंधभक्त कहे तो उससे उन्हें शर्म नहीं आती। गांधीजी के विचारों का अनुसरण करके अपने विचार बनाने का प्रयत्न करने में उन्हें हीनता नहीं लगती। हुदली में हुए गांधी सेवा संघ के सम्मेलन में श्री गंगाधरराव देशपाण्डे ने कहा था—'कितने ही हमें गांधीजी का अंध अनुयायी कहते हैं। मैं कहता हूँ कि हाँ, मैं हूँ। मुझे कोई शारीरिक पीड़ा हो तो मैं ऐसे चिकित्सक के पास जाता हूँ जिस पर मेरा विश्वास हो और वह जैसी सलाह दे वैसा ही करता हूँ। कानून का कोई मसला हो तो बड़े वकील के पास जाता हूँ और उसकी सलाह से काम करता हूँ, क्योंकि मैं इन बातों को क्या समझूँ जो इनमें अपनी टांग अड़ाऊँ? इसी तरह राजनीति में हमें गांधीजी की शक्ति और सूझबूझ का अनुभव

हो चुका है और हमने देख लिया है कि उनके सामने हमारी बुद्धि बालक जैसी है; तब फिर विश्वासपूर्वक उनका अनुसरण क्यों न करें ?'

इसी विचार धारा को काका साहेब ने दूसरे रूप में व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है, 'धारासभाओं में जाने-न-जाने के प्रश्न पर पहली बार जब विवाद हुआ तब जो लोग धारासभाओं में जाने के पक्ष में थे उन्हें परिवर्तनवादी (प्रो-चेंजर) कहा जाता था और जो धारासभाओं में जाने के विरुद्ध थे उन्हें अपरिवर्तनवादी (नो-चेंजर) कहा जाता था। मैं कहता कि मैं तो न परिवर्तनवादी हूँ और न अपरिवर्तनवादी। मैं तो अनुपरिवर्तनवादी (को-चेंजर) हूँ, यानी गांधीजी जिस पक्ष में जाय, उसी में जाऊँगा। उस समय गांधीजी अपरिवर्तनवादी थे, इसलिए मैं भी अपरिवर्तनवादी था, अब वे धारासभाओं में जाने के पक्ष में हैं तो मैं भी उसी तरह बदल गया हूँ।'

परन्तु काका साहेब केवल श्रद्धावान् भक्त ही नहीं हैं, बल्कि एक सिपाही भी हैं और सिपाही ऐसे कि योजना बनाने और पूरी करने की क्षमता भी रखते हैं। इसीलिए जिस क्षेत्र में गांधीजी ने इन्हें रखा, उसमें पुराने सनातनधर्म की श्रद्धा, आर्यसमाजी के जोश, सत्याग्रही की हठ, नैयायिक की वाक्पटुता और सफल प्रबन्धक की चतुराई से इन्होंने गांधीजी के मत का प्रचार किया, उस मत को दूसरे के हृदयगम कर उसे सुदृढ़ किया और इस तरह उसके अमल की व्यवस्था की।

इसका परिणाम कई बार यहाँ तक होता है कि जिनकी विचार-धारा या कार्य-पद्धति भिन्न प्रकार की होती है वे पहले तो काका साहेब की बातों से आकुल हो जाते हैं, फिर खीजते हैं, उसके बाद विरोधी बनते हैं, और फिर प्रतिपक्ष बनाकर काका साहेब को निकाल बाहर करने की कोशिश करते हैं। एक ओर काका साहेब के लिए खूब आदर और दूसरी ओर उनके प्रति तीव्र रोष, एक ओर उनके ज्ञान, कार्य तथा चरित्र

की कद्र और दूसरी ओर उनके प्रति विरोध की भावना, इस तरह काका साहेब की एक समान निन्दा-स्तुति करने वाले बहुत लोग मिलेंगे। यह काका साहेब के जीवन का एक पहलू है। यह बात इन्हें तथा इनके निकटवर्ती साथियों को बहुत बार बहुत शोकप्रद होती है और इससे कभी-कभी इनमें निराशा की भावना भी आ जाती है।

: ४ :

जो सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करे, विविध प्रवृत्तियाँ शुरू करे, सुधारक की वृत्ति रखे और संस्थाएं खोले, उसके जगह-जगह विरोधीपैदा हों और मित्र भी शत्रु बन जाएं, इसमें आज की मानव-जाति की संस्कारिता देखते आश्चर्य की कोई बात नहीं। जो केवल न्यायाधीश की तरह तटस्थवृत्ति से सबकी सुनताभर रहे, अपने फैसले पर अमल कराने की झंझट में भी जो नहीं पड़े, उसका तो किसी से विरोध नहीं हो सकता। सम्भव है कि लोग उसे स्वतन्त्र और निर्भय बताकर उसकी तारीफ भी करें, लेकिन ऐसी तारीफ का कोई मूल्य नहीं। यह कहावत है जरूर कि जहां पक्ष-विपक्ष हों वहाँ परमेश्वर का वास नहीं होता, लेकिन जहां पक्ष-विपक्ष हों वहाँ से भाग जाने का ही परमेश्वर धन्धा बना ले तो वह कायरता का देवता ही रह जायगा।

इसी तरह काका साहेब की विविध प्रवृत्तियों में विरोधी उत्पन्न हों तो उसमें आश्चर्य करने जैसी कोई बात नहीं है। जिस तरह कई इंजेक्शन रोगनाशक और पुष्टिकारक माने जाने पर भी पहले तीव्र ज्वर पैदा करते हैं उसी तरह लोकसेवा की प्रवृत्तियों में लगे हुओं के लिए यह एक अनिवार्य संकट है, ऐसा समझना चाहिए। काका साहेब का हृदय अति कोमल न होता तो ऐसे विरोधों को बहुत महत्व नहीं मिलता; लेकिन काका साहेब की शिरीष-मृदुता के कारण ऐसी वेदनाओं का उन पर बहुत समय तक असर रहता है और इसीलिए इन पर ध्यान जाता है।

५

काका साहेब की प्रतिपक्ष को निरस्त करने की एक खास रीति है। जिस पक्ष के समर्थन में उन्हें बोलना हो उसे बड़े भोलेपन के साथ डरते-डरते उपस्थित करते हैं। शुरुआत इस तरह करते हैं कि मैं खुद तो इससे आगे जाना चाहता था, पर अमुक कारणों से आगे बढ़ने में संकोच करता हूं और फिर प्रतिपक्ष पर ऐसे हमला करते है, जिससे उसका पक्ष खटपटा लगने लगे। उदाहरण के लिए बहस इस बात पर करनी है कि बालक को अक्षरज्ञान पांचवें वर्ष से कराना चाहिए या सातवें वर्ष से और उन्हें दूसरे पक्ष का समर्थन करना हो तो वे कहेंगे—मेरे विचार में तो अक्षर ज्ञान आठवें वर्ष के बाद कराना चाहिए, पर दूसरों के आग्रह-वश मुझे सातवें वर्ष में अक्षरज्ञान की बात मान लेनी पड़ी है। इसके बाद देर से अक्षर ज्ञान सीखने के लाभ और छोटी उम्र में ऐसा करने की हानियां आदि बताकर वह बताएंगे कि पांचवें वर्ष में अक्षरज्ञान कराने का सुझाव देने वाले कितनी बड़ी गलती पर हैं।

कई बार काका साहेब इससे उलटी युक्तियों का भी सफलता के साथ प्रयोग करते हैं। अपनी बात ऐसे शुरू करते हैं जैसे प्रतिपक्षी के मत को ही वे मानते हो और प्रतिपक्ष वालों को भी न सूझे ऐसी-ऐसी दलीलें उनके पक्ष में देते हैं। जब प्रतिपक्ष वाले खुश हो जाते हैं तब धीरे-धीरे काका साहेब उससे खिसकने लगते हैं और यह समझाने लगते हैं कि किन कारणों से यह बात ग्राह्य नहीं है। फल यह होता है कि जिस तरह पोर्शिया की दलीलें सुनकर शाईलाक पहले खुश हुआ, लेकिन बाद में झेंप गया, उसी तरह प्रतिपक्ष की हालत होती है।

विरोधी-पक्ष वाले काका साहेब के जो कट्टर विरोधी बन जाते हैं, उसका यह भी एक कारण होगा।

: ६ :

काका साहेब ने शिक्षक कहलाने में ही अपना गौरव माना है। विद्यार्थियों के लिए वह सदा मान्य रहे हैं। लेकिन उनकी शिक्षा से मिलने वाला खास आनन्द जिन्हें प्राप्त करना हो, उन्हें बड़ी कक्षाओं या सभाओं में उनके प्रवचन सुनने की बजाय उनकी खाट के पास जाकर बैठना ज्यादा ठीक होगा। आयुवृद्धि के साथ उनके इस व्यवसाय में थोड़ा परिवर्तन अवश्य हुआ है। बीस वर्ष पहले के काका साहेब बालकों और बड़ों की सम्मिलित बैठकों में इस तरह बात करते थे मानो बड़ों को भूल कर बालकों पर ही उनकी नजर हो, समझाने की उनकी विलक्षणता के कारण बड़े भी उसका आनन्द ले लें, यह बात अलग है। इसके विपरीत आज के काका साहेब ऐसी बैठकों में बोलते हैं तो ऐसा लगता है मानो बालकों की बजाय बडों पर ही उनका ध्यान है। यही कारण है कि बीस वर्ष पहले काका साहेब बोल रहे हों और बालक जमुहाई लें ऐसा नहीं होता था, लेकिन अब ऐसा हो सकता है। फिर भी काका साहेब ऐसी स्थिति में नहीं आये हैं कि बड़े भी जमुहाई लेते रहें!

इसका कारण यह है कि उस काल में ऐसा नहीं लगता था कि काका साहेब किसी विषय का खण्डन-मण्डन करना चाहते हैं, बल्कि यही लगता था कि मनोरंजन और हितकर बात ही वह कहेंगे। बहुत करके एकाध बात से ही वह शुरू करते थे। लेकिन अब ऐसा लगता है मानो उनमें स्थित मत-प्रचारक और नैयायिक बोल रहा है। फलतः बालकों को उसमें मजा कम आता है।

फिर भी यह भावना उनके स्वभाव में सदा के लिए बद्धमूल हो गई है कि वे शिक्षक हैं और उनके श्रोता छोटे या बड़े विद्यार्थी

७

गांधीजी का सबसे अन्तिम और स्पष्ट मत यह है कि जिजी-विषेच्छतं समाः (अर्थात् सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिये)। गांधीजी ने गुणाकार भी किया है कि सौ का अर्थ सौ नहीं, बल्कि १२० या १२५ वर्ष होता है। हमें आशा करनी चाहिये कि गुरु-आज्ञापरायण काका साहेब को परमेश्वर गांधीजी के इस मत के अनुसार व्यवहार करने तथा उनका श्रेष्ठ उपयोग करने की शक्ति और सामग्री ही प्रदान नहीं करेगा बल्कि उनका सर्वतोमुखी और समुन्नत विकास भी करेगा।

काका साहब कालेलकर

रामधारीसिंह दिनकर

: १ :

एक दिन श्री वियोगी हरिजी से बात करते-करते काका साहब की याद आ गयी। मैंने पूछा, "हरिजी, आजकल काका साहब कहाँ हैं?" हरिजी ने कहा, "काका साहब मुझसे कहते थे कि 'आजकल मैं मृत्यु से होड़ ले रहा हूं। मृत्यु जब मुझे भारत में खोजती है, तब तक मैं अफ्रीका में पहुँच जाता हूँ और मृत्यु जब मेरी टोह में अफ्रीका पहुँचती है, तब तक मैं अफ्रीका से निकल कर गायना और सुरीनाम पहुँच जाता हूं और मृत्यु जब मुझे खोजते हुए सुरीनाम पहुँचती है, तब तक मैं जापान पहुँच जाता हूं।' भगवान करें कि मृत्यु को काका साहब हमेशा इसी प्रकार धोखा देते रहें।"

काका साहब भारत में रहने पर भी एक स्थान पर बहुत कम रह पाते हैं। उनके भीतर भावों और विचारों का समुद्र भरा है। वे जहां भी होते हैं, उनके मुख से भावों और विचारों का निर्झर फूटता रहता है। वे सच्चे अर्थों में इस युग के महर्षि हैं। उनका जन्म देने के लिए हुआ है और जीवन भर वे मनुष्य को प्रेम और ज्ञान देते ही आये हैं। अब जो बुढ़ापे ने उन्हें आ घेरा है, तब दान की उनकी आकुलता कुछ

और बढ गयी है और वे सारे देश मे, नही-नही, सारे संसार मे घूमकर अपने आप को पूरी तरह लुटा देना चहाते हैं। मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि बुढापा उन्हे कोई भी बाधा नही पहुँचा सका है। इस उम्र मे भी वे उतना काम कर लेते हैं, जितना उनसे आधी उम्र का नौजवान शायद ही कर सके।

जो व्यक्ति युग-पुरुष होता है, उसके शामियाने के खभे अनेक होते हैं। गाधीजी के राजनैतिक शामियाने मे भी असख्य खभे थे और इनमे से प्राय प्रत्येक को गाधीजी ने अपने हाथों से सूता और सवारा था। किन्तु शिक्षा, साहित्य और आध्यात्मिक प्रयोग के मामले मे वे अपने चार सलाहकारों का सबसे अधिक आदर करते थे। वे थे श्री काका साहब कालेलकर, श्री किशोरलालभाई मश्रूवाला, श्री महादेवभाई देसाई और श्री दादा धर्माधिकारी।

गाधी-युग मे काका साहब ने भाषा और शिक्षा के क्षेत्र मे बड़ा भारी काम किया। गाधीजी के अधीन वे शिक्षाशास्त्री का काम करते थे और गाधीजी की भाषानीति की व्याख्या का अत्यन्त गुरु भार उनके कन्धों पर था। इस सबन्ध मे उन्होंने जितने लेख लिखे और भाषण दिये, उनका सग्रह कर दिया जाय तो वह कई जिल्दों का विशाल ग्रथ बन जायेगा।

भाषा का काम वे अब भी पूरे प्रेम से करते हैं, किन्तु, अब उनका ध्यान एक अधिक ऊँचे ध्येय पर केन्द्रित हो गया है। वह ध्येय है धर्म-धर्म के बीच, भाषा-भाषा के बीच, वाद-वाद के बीच और देश-देश के बीच समन्वय की स्थापना का काम। यह भी गान्धी-युग की ही शिक्षा का सार है। ससार साम्यवाद और प्रजातत्र के बीच बट गया है; एक धर्म दूसरे धर्म से आज भी अलग रहना चाहता है और भारत के भीतर भी प्रान्तों, भाषाओं और मतवादों को लेकर खटपट चल रही है। अतएव काका साहब का [illegible] अब एकता और समन्वय के काम पर

है। इस काम का अवसर अगर प्राप्त हो जाय, तो काका साहब दूर-दूर तक की भी यात्रा का कष्ट बड़े आनन्द से स्वीकार करते हैं। गांधी-युग में उनका स्थान एक तेजस्वी कार्यकर्ता का स्थान था। अब वे महर्षि के पद पर पहुँच गये हैं। वे वक्ता नहीं हैं, किन्तु उनके भाषण में जो प्रेरणा और ताजगी होती है, सच्चाई का जो तेज और आत्मदान का जो उत्साह होता है, उसके कारण उनका भाषण सुनना गंगा-स्नान के समान पुण्यकारक हो जाता है। हमारा सौभाग्य है कि हम उनके समकालीन हैं।

हिन्दी प्रान्तों से बाहर के लोग काका साहब को हिन्दी के धुरन्धर सेवक के रूप में जानते हैं अथवा उन्हें भी शंका की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु हिन्दी-भाषी जनता के नेता काका साहब को विवादास्पद व्यक्तित्व समझते हैं। काका साहब ने खुद लिखा है, "भारत के लोग मुझे हिन्दी के उपासक के तौर पर ही जानते हैं और क्योंकि कई बरसों तक दो लिपियों वाली हिन्दुस्तानी का प्रचार करके मैंने हिन्दी वालों को कुछ नाराज भी किया है, इसलिए लोग अब यह जानना चाहते हैं कि हिन्दी के भावी स्वरूप के बारे में आज मेरे क्या विचार हैं।"

जाहिदे-तंगे-नज़र ने मुझे काफ़िर समझा,
और काफ़िर यह समझता है मुसलमान हूँ मैं।

: २ :

हम हिन्दी वालों में और दोष भले ही न हों, किन्तु एक दोष बहुत स्पष्ट है, जो सारे देश के ध्यान में आ गया है। हम हिन्दी के पक्ष में जिस लगन से जोशीले वक्तव्य और व्याख्यान देते हैं, उसी लगन के साथ हिन्दी-सेवा का ठोस कार्य नहीं करते। हमारी भाषा में अब दबंग व्यक्तित्व का एक भी मासिक पत्र नहीं निकलता और हमारे पास दो

ही दैनिक पत्र हैं, जिनकी ग्राहक-संख्या लाख से ऊपर पहुँची है। शर्म की बात है कि यह संख्या लाख से ही ऊपर पहुँची है, वह दो या पाँच लाख तक नहीं पहुँच पाती है।

हिन्दी में कितने लोग हैं जो यह जानते हैं कि दिल्ली के राजघाट से काका साहब के संपादकत्व में "मंगल प्रभात" नामक एक हिन्दी पाक्षिक निकलता है, जिसकी पंक्ति-पंक्ति समन्वय की भावना को अर्पित होती है? और यह भी कितने लोगों को मालूम है कि भारतीय भाषाओं में "मंगल प्रभात" के समान कोई दूसरा पत्र नहीं है? "मंगल प्रभात" भारतीय भाषाओं के बीच हिन्दी के ललाट पर हर पखवारे एक नया तिलक लगा रहा है, मगर हिन्दी-भाषी जनता उस पत्र की ओर आँख उठा कर देखती भी नहीं।

हमारे लिए यह कोई नया प्रमाद नहीं है। हिन्दी हरिजन की उपेक्षा से आजिज होकर काका साहब ने सन् १९३९ ई० में लिखा था—"यहाँ तक कि गांधीजी-जैसे राष्ट्रभाषाभिमानी को भी अपना संदेश 'यंग इंडिया' और 'हरिजन'-जैसे अखबारों द्वारा ही सुनाना पड़ रहा है। हिन्दी-भाषी यदि उनके 'हिन्दी नवजीवन' और 'हरिजन सेवक' की कद्र करते तो देश की हालत बहुत कुछ सुधर जाती। अंग्रेजी को पदभ्रष्ट करने के लिए देश में जो अत्यल्प लेकिन सुदृढ़ प्रयत्न हो रहा है उसमें हिन्दी-भाषियों का हिस्सा सबसे अधिक होना चाहिए था।"

: ३ :

मैं इस बात पर अक्सर सोचता हूँ कि गांधीजी ने उतने तेजस्वी व्यक्तियों का चयन कैसे कर लिया और ये सभी तेजस्वी लोग उनके पीछे कैसे हो लिये। स्पष्ट ही ये सभी लोग देशभक्त थे और गांधीजी को देखते ही उन्हें विश्वास हो गया होगा कि यह आदमी देश का परि-

त्राण अवश्य करेगा। एक दिन ऐसी ही जिज्ञासा से भरकर मैंने काका साहब से पूछा, "आप गांधीजी की संगति में कैसे आये थे ?"

काका साहब कहने लगे—"तिलकजी बाहर से सार्वजनिक राजनीति में थे, लेकिन भीतर से लड़ाई द्वारा क्रांति करने की तैयारी कर रहे थे। उनके नायब श्री गंगाधरराव देशपाण्डे थे। बम्बई से उन्होंने जब 'राष्ट्रमत' अखबार निकाला, मैं उसी में लग गया। मेरा विषय था अफ्रीका और गांधी। एक गांधी जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करने को शिकागो की धर्म-संसद में गये हुए थे। मेरा ख्याल था यही गांधी अफ्रीका में चमत्कार दिखा रहे हैं। गांधी नाम के साथ मेरा आदि परिचय यही था।

"सन् १९१४ ई० में गांधीजी ने अफ्रीका में अपना आश्रम भंग कर दिया और अपने छात्रों को शान्ति-निकेतन भेज दिया तथा खुद योरोपीय युद्ध में सहायता पहुँचाने को इंग्लैंड चले गये। शान्ति-निकेतन में गांधीजी के साथी श्री एंड्रूज़ की निगरानी में रहते थे।

"सन् १९१५ ई० में गांधीजी स्वदेश लौटे और अपने छात्रों को देखने के लिए शान्ति-निकेतन पधारे। वहीं गांधीजी के साथ मेरी पहली मुलाकात हुई।

"रवीन्द्र और गांधी, दोनों में मुझे एक ही सत्य दिखाई पड़ा हालांकि एक में था कला का सुरुचिपूर्ण विलास, दूसरे में थी वैराग्य-भावना और अहिंसा।

"मैं अपने को रवीन्द्र को अर्पित कर चुका था। मैं उनके आश्रम का मैनेजर नियुक्त होने जा रहा था। तभी गांधीजी से मेरी भेंट हो गयी। मैंने दस दिनों तक गांधीजी के साथ बहस की।

"मेरा कहना था, हिंसा में कोई बुराई नहीं है। और हो भी तो हिंसा से स्वराज्य मिले तो मैं नरक जाने को तैयार हूं, लेकिन हिंसा

जरूर करूँगा। गांधीजी ने कहा, देश में बहुमत तुम्हीं लोगों का है। मगर मेरी अहिंसा को समझना चाहते हो तो मेरे आश्रम में आकर रहो। अहिंसा से ही स्वराज्य हो जायगा।

"मैंने रवीन्द्रनाथ से कहा, मैं आपका भक्त और शिष्य हूँ। मगर गांधीजी स्वराज्य लाना चाहते है। इसलिए अब मैं उन्हीं के साथ रहूँगा।

"और आश्रम पहुँचकर गांधीजी से मैंने कहा, मैं आपके पास आया हूँ, लेकिन टैगोर को हृदय में लिये आया हूँ। टैगोर भारतवर्ष हैं। आप भी भारतवर्ष हैं। मैं दोनों भारतों की सेवा करूँगा।"

काका साहब का सारा जीवन ही इस बात का प्रमाण है कि जो प्रतिज्ञा उन्होंने गांधीजी के सामने की थी, उसे उन्होंने पूरा-पूरा निभा दिया है। काका साहब ने सचमुच ही रवीन्द्रनाथ को हृदय में रखकर गांधीजी की सेवा की है, साहित्य, धर्म और संस्कृति को हृदय में रखकर समाज और राजनीति की सेवा की है, वे शबनम और दूब का ध्यान करते हुए रेगिस्तान में चले हैं। गांधी और रवीन्द्र को एक खरल में घोटने से जो वस्तु उत्पन्न होती है, वही काका साहब के व्यक्तित्व की विशेषता है।

: ४ :

गांधीजी का कला-विषयक सिद्धांत अत्यन्त कठोर था। वे मानते थे कि चरखे में जहाँ तक बारीक सूत निकालने का सवाल है, वहाँ तक कला है बाकी सब वला है। काका साहब की कला-विषयक मान्यता इतनी कठोर नहीं है, क्योंकि उनके हृदय में रवीन्द्रनाथ का निवास है। रवीन्द्रनाथ मानते थे कि मनुष्य जब तक उपयोगिता के घेरे में है, तब तक वह कला की सृष्टि नहीं कर सकता। कला तब उत्पन्न होती है, जब आदमी उपयोगिता के घेरे को लाँघ जाता है।

संत और कलाकार, दोनों से व्याप्त होने के कारण काका साहब मनुष्य की कमजोरियों को सहानुभूति से देखते हैं। विशेषतः साहित्यिकों के प्रति वे बहुत ही उदार हैं। उनकी इस उदारता का एक बार मैंने ऐसा अच्छा उपयोग किया कि वह घटना मेरे जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि बन गयी है।

बात यह थी कि गांधीजी को मैंने देखा तो अनेक बार था, एक बार एक सभा में उन्हें कविता भी सुनायी थी, किन्तु उन्हें जी भर कर देर तक देखने की ललक लगी हुई थी। इसलिए सन् १६३६ ई० में जब वृन्दावन (बेतिया, बिहार) में गांधी-सेवा-संघ का समारोह हुआ, वहाँ मैं भी पहुंचा। गांधी-सेवा-संघ के सदस्य केवल खाँटी गाँधीवादी ही हुआ करते थे। उदाहरण के लिए वृन्दावन वाले समारोह में राजेन्द्र बाबू, सरदार पटेल और अब्दुल गफ्फार खाँ तो आये थे, लेकिन जवाहर लाल, मौलाना आजाद और जयप्रकाश नारायण नहीं आये थे। गांधी-सेवा-संघ गांधीवादियों की अपनी संस्था थी और उसमें वे ही लोग आगे दिखायी देते थे, जिन्हें गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में अटल विश्वास था।

गांधी-सेवा-संघ की सभा में लोगों के बैठने का प्रबन्ध भी कठोरता से किया जाता था। बाँस और रस्सी के सहारे सभा तीन घेरों में बाँट दी जाती थी। सब से बीच के घेरे में वे नर-नारी बैठते थे, जो बराबर सूत्र-यज्ञ में भाग ले सकते थे। दूसरे घेरे में कांग्रेस के ऐसे नेता बैठते थे, जो चरखा नहीं चलाते थे। जो केवल दर्शक होते, वे तीसरे घेरे में बैठते थे।

तीसरे घेरे में प्रवेश आसानी से हो जाता था और मैं अधिकारी भी उसी घेरे का था। लेकिन मेरे मन में यह लोभ जग गया कि मैं सूत्र-यज्ञ वाले घेरे में बैठूं और वह भी उस मंचसे सट कर जिस पर गांधीजी, सरदार पटेल और अब्दुल गफ्फार खाँ बैठने वाले थे। राजेन्द्र बाबू,

से मेरी अच्छी जान-पहचान थी। जी मे आया कि उनसे पूछ कर मैं पहले घेरे में बैठ जाऊँ। किन्तु यह सोच कर उनसे बात करने की हिम्मत नही पडी कि कहीं उनके भीतर नीति-अनीति की दुविधा उत्पन्न हो गयी तो सारा गुड गोबर हो जायेगा। निदान मैंने अपनी कमजोरी का हाल काका साहब से कहा। काका साहब मेरे अरमान पर द्रवित हो उठे। उन्होंने पूछा, "गाधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम मे विश्वास है ?" मैंने निवेदन किया, "विश्वास तो पक्का है।" काका साहब बोले, "तो फिर एक तकली लेकर मेरे साथ चले आइये।" मैंने दौड़कर प्रदर्शनी की दुकान से एक तकली और कुछ पूनी खरीदी और काका साहब के साथ पहले घेरे मे घुस गया और ठीक मच से सटकर बैठ गया। तकली चलाना मैंने सन् १६२०-२१ ई० मे सीखा था और घर पर जब तब तकली चलाया भी करता था इसलिए सूत्र-यज्ञ मे कर्मठता और लगन से भाग लेने मे मुझे कोई कठिनाई नही हुई।

उस दिन गाधीजी को अत्यन्त समीप से मैंने कोई दो-ढाई घटे तक आँख भर कर देखा। मैं भाव मे भर कर जितना ही उन्हे देखता था, उतना ही मुझे यह प्रतीत होता था कि गाधीजी ठीक उसी मिट्टी के बनाये हुए नही है, जिस मिट्टी से हम लोगो का निर्माण हुआ है। आदमी तो वे भी थे, मगर उतने आदमियों के झुड मे भी वे सब से अलग दीखते थे। वे सब से ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे भिन्न थे। मैं उनकी इस अलौकिकता से अभिभूत हो उठा। बहुत बाद को सांप्रदायिक दगो के समय जब गाधीजी पटने आये, तब भी मैं दूर से उन्हे टहलते हुए देखा करता था और तब भी यही भान होता था कि इस आदमी को धरती से और आसपास की दुनिया से कोई सम्बन्ध नही है। वह निराकार का प्रतीक है। अनेक आत्माओं के बीच वह अकेली आत्मा है। वह शरीर धरने पर भी अशरीरी और राजनैतिक आन्दोलन का सूत्रधार होने पर भी सबसे अलिप्त है।

मैं काका साहब के प्रति अनन्त कृतज्ञता अंकित करता हूं कि गांधी जी को समीप से देखने का अवसर देकर उन्होंने मुझे एक अद्भूत अनुभूति से होकर गुजरने का मौका दिया।

: ५ :

काका साहब से मैं इतनी बार मिल चुका था कि इस बात का मुझे अन्देशा भी नहीं था कि वे मुझे कभी नहीं भी पहचानेंगे। किन्तु, यह अनहोनी बात एक बार हो ही गयी। जिस साल बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन बौंसी (भागलपुर) में हुआ, मैं कुरुक्षेत्र की पाण्डुलिपि को लिये सम्मेलन में इस आशा से गया कि काका साहब को यह कविता मैं सुना दूंगा। शायद इस आशय की सूचना मैंने उन्हें पत्र में भी दे दी थी। किन्तु, भागलपुर में जब वे और मैं सत्येन्द्रजी के घर में ठहरे, उन्होंने मुझे पहचाना ही नहीं। तब भी रात में मैं कविता खोलकर उनके सामने बैठ गया और उनसे मैंने कहा, मेरा नाम दिनकर है और अपनी नवीन रचना मैं आपको सुनाना चाहता हूं। नाम सुनते ही काका साहब आनन्द से उछल पड़े और कहने लगे, "यह देखिये, शाम से हम साथ हैं, मगर मैं आपको पहचान ही नहीं सका। और वहां वर्धा में सरोजिनी (सरोजिनी नानावटी) से कह रहा था, चलो इस बार अच्छा सुयोग है। तुम्हें कवि दिनकर से उनकी कविता सुनवाऊँगा। मैं चेहरे याद नहीं रख सकता। यह मेरी बहुत पुरानी कमजोरी है।"

फिर काका साहब ने अपने भुलक्कड़ स्वभाव की एक कहानी कही जो यहां जोड़ देने के योग्य है।

[कविवर दिनकरजी ने अपने इस सुन्दर [illegible] काका साहब के भुलक्कड़ स्वभाव के बारे में जो [illegible] से सुनी हुई जोड़ दी [illegible]

भी जोड़ दी है। उसे टालकर सच्ची बात जैसी थी वैसी काकासाहेब के कलम से हमें मिली है वह यहाँ देते है, विश्वास है दिनकर जी इससे खुश ही होगे । स०]

बहुत पुरानी बात है। मेरे सबसे बड़े भाई की दूसरी लडकी की शादी थी। मेरे बड़े भाई निवृत्तिमार्गी । उन्होंने मुझसे कहा—'तुम्ही कर दो ना अपनी भतीजी का कन्यादान।' स्वभाव मैं जानता था।

हम मडप मे जा बैठे। गभीर चेहरा करके कन्यादान के मन्त्र बोल गये। विवाह संपन्न हुआ।

शादी के बाद एक महीना हुआ होगा। मै कही जा रहा था। दामाद महाशय सामने से आ रहे थे। उन्होंने सिर थोडा झुकाकर मुझे नमस्कार किया। मैं उन्हे बिलकुल पहचान न सका। होगा कोई सज्जन, नमस्कार करता है तो हमें भी नमस्कार करना चाहिए, ऐसा सोचकर उसे कोरा नमस्कार किया और आगे चला। अपरिचित आदमी का नमस्कार कबूल करते जो कोरा भावहीन चेहरा होता है वैसा ही भाव देखकर दामाद महाशय को बहुत बुरा लगा होगा। स्वागत का एक शब्द भी नही, आत्मीयता या स्मित भी चेहरे पर नही। श्वशुर महाशय यूं ही आगे चले गए!

बेचारे युवान ने अपने घर जाकर बडा धूंआ-धूंआ किया। "ऐसे कैसे श्वशुर? अभी तो अपने हाथो कन्यादान किया था। मेरे पांव भी धोये थे और आज मुझे पहचानने से भी इन्कार करते हैं।"

सारी शिकायत रिश्तेदारो के द्वारा मेरे कानो तक आ पहुँची। मैं शर्मिंदा हुआ। दामाद महाशयको और समधी लोगों को कहला भेजा:

"मेरी गलती हो गयी, दामाद महाशय को मैं पहचान न सका, इस लिए तो मैंने उनसे कोई बात न की। इसपर विश्वास रखें और क्षमा करें। कुछ भी हो मैं कन्यापक्ष का आदमी। दामाद मुझ से छोटे हों

तो भी आदर के अधिकारी हैं। इसलिए तहेदिल से मैं उनकी माफी माँगता हूं। लेकिल—

लेकिन उनको इतना भी कहिए कि तहेदिल से माफी माँगना मेरे लिये आसान है; चेहरे भूल जाने की कमजोरी दूर कैसे करूँ? अगर फिर से रास्ते पर या कहीं भी उनका साक्षात्कार हुआ और मैं उनको पहचान न सका तो इसका क्या इलाज? जितनी दफे गलती होगी, माफी माँग लूंगा। लेकिन गलती नहीं होगी इसका विश्वास कहाँ से लाऊँ?"

सुना कि मेरी बात सुनकर समधी के लोगों में भी बड़ी हँसाहँसी हुई और सारा किस्सा हमारी जाति के लोगों में फैल गया।